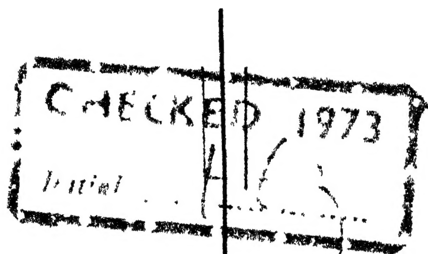
ॐ

न्याय-दर्शन



भाष्यकार

स्व० स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती



प्रकाशक

पुस्तक मन्दिर

मथुरा

प्रकाशक :

पुस्तक मंदिर

मथुरा

सन् १९६०

पं० पुरुषोत्तमदास शर्मा के
हरीहर इलेक्ट्रिक मशीन प्रेस, मथुरा में
मुद्रित

❀ ओ३म् ❀

भूमिका

ससार में प्रत्येक मनुष्य को सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है, और सब इसी के लिए प्रयत्न करते हैं कि वे दुःख को छोड़कर सुख प्राप्त करेंगे। परन्तु सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुःख से घृणा होने पर भी न तो प्रत्येक को सुख मिला है और न ही दुःख से मुक्ति मिलती है। इस अद्भुत दशा को देखकर अर्थात् 'सुख के प्राप्त करने और दुःख से बचने का उद्योग करते हुए भी यह असफलता क्यों हुई?' जब इसके कारणों पर विचार किया जाता है तो पता लगता है कि मनुष्य की सारी शक्ति परिमित है, अतः उसका ज्ञान भी परिमित है। जिस वस्तु का मनुष्य से सम्बन्ध होता है वह इन्द्रियों या मन से ज्ञात होता है और बहुत-सी वस्तु ऐसी हैं जो इन साधनों से ज्ञात नहीं होतीं। उनके ज्ञात होने का साधन बुद्धि है। यदि इन तीनों साधनों (मन, बुद्धि, इन्द्रिय) में से किसी एक में विकार या अन्तर आजावे तो ज्ञान में भी अवश्य विकार या अन्तर आजावेगा। तब ज्ञान में विकार हुआ तो उसका उपयोग ठीक नहीं होगा। उपयोग के ठीक न होने से उसका परिणाम या फल भी अवश्य उल्टा होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कार्य के फल को यथार्थ रूप से प्राप्त करने के लिए ज्ञान का यथार्थ होना आवश्यक है।

जहाँ किसी वस्तु का ज्ञान विपरीत होगा वहाँ उसका फल भी विपरीत होगा। अतः मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वस्तु को उपयोग में लाने से पूर्व उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के साधनों को प्राप्त करे। क्योंकि जिस सर्राफ ने सोने की परीक्षा के लिए कसौटी नहीं ली है वह सोने की यथार्थ परीक्षा करने में असमर्थ है। ऐसा सर्राफ अपने व्यापार में लाभ नहीं उठा सकता और न वह सर्राफ

कहलाने का अधिकारी है। मनुष्य शब्द का अर्थ भी यही है कि विचार हो और जिसका उद्देश्य अपने जीवन में विचारानुसार के बाजार में वस्तुओं का खरीदना है। उनमें से जो वस्तु बिना खरीदी जाती है उसमें हानि भी बहुत होती है। पर जो वस्तु कर खरीदी जाती है उसमें हानि की बहुत कम सम्भावना है प्रकार जो मनुष्य अपने आत्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लि विचारे काम करेगा तो वह दुःख का अनुभव अवश्य करेगा। यदि वह भले प्रकार अन्वेषण करके कार्य करेगा तो अवश्य ही सफ होगी। यथार्थ तत्वज्ञान प्राप्ति के साधनों में न्याय-शास्त्र सबसे और आवश्यक है। जो मनुष्य न्याय-दर्शन को नहीं जानता वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

जो मनुष्य न्यायशास्त्र को ठीक प्रकार से जान जाता है कोई चालाक धोखा नहीं दे सकता। साम्प्रदायक तथा वैज्ञानिक में जो बातें साधारण-सी दृष्टि में कठिन मालूम होती हों, वह के ज्ञाता को अति सुगम हैं और जिन प्रश्नों का उत्तर देने में के बड़े मत चकराते हैं उनका उत्तर इस विज्ञान के ज्ञाता बड़ी से दे सकते हैं। सम्प्रति आत्मिक सिद्धान्तों के ज्ञानाभाव से मनु अनेक प्रकार के झगड़े हो रहे हैं और इस दर्शन के न जानने झगड़े समय २ पर विकट रूप धारण कर लेते हैं। अतः हमारा हो गया है कि यथाशक्ति पुराने ऋषियों के विचारों को भाषा करके देशवासियों को यथार्थ साधनों का ज्ञान कराने का उद्देश्य इन दर्शनों का अनुवाद क्रमशः न्याय दर्शन से प्रारम्भ होकर दृष्टि में आता रहेगा। यदि एक व्यक्ति को भी इसके अध्ययन से लाभ हुआ तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

—दर्शनानन्द सरस्वती

ओ३म्

न्यायदर्शन भाषानुवाद

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

(प्रश्न) न्याय किसे कहते हैं ?

(उत्तर) प्रमाणों से किसी वस्तु क निर्णय करना न्याय कहलाता

(प्र०) प्रमाण किसे कहते हैं ?

(उ०) अर्थ के यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और प्रमाण के वास्ते आत्मा को जिन कारणों की आवश्यकता होती है, वह प्रमाण कहलाते हैं।

(प्र०) प्रमाण से क्या लाभ है ?

(उ०) बिना प्रमाण के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता और बिना ज्ञान के किसी काम के करने और छोड़ने में मनुष्य परिश्रम नहीं कर सकता, इस कारण कार्य में प्रवृत्त कराने वाला प्रमाण है।

(प्र०) प्रमाण से ज्ञान प्राप्त करने के वास्ते किन वस्तुओं की आवश्यकता है ?

(उ०) प्रत्येक अर्थ के जानने के वास्ते चार वस्तु होती हैं—प्रथम प्रमाता अर्थात् वस्तु को जानने वाला, दूसरा प्रमाण जिसके द्वारा वस्तु को जान सकें, तीसरा प्रमेय अर्थात् वह वस्तु जो प्रमाण द्वारा जानी जावे, चौथे प्रमिति (प्रमा) अर्थात् वह ज्ञान जो प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध से उत्पन्न हो।

(प्र०) अर्थ किसे कहते हैं ?

(उ०) जो सुख में सुख का कारण और दुःख में दुःख का कारण अर्थ कहते हैं।

(प्र०) प्रवृत्ति किसे कहते हैं ?

(उ०) जब प्रमाता अर्थात् जानने वाला किसी को जान लेता है तो उसके त्यागने या प्राप्त करने के वास्ते जो परिश्रम करता है उस परिश्रम को प्रवृत्ति कहते हैं।

(प्र०) प्रमाण से चीजों की सत्ता का ज्ञान होता है, उसके अभाव के ज्ञान का क्या कारण है?

(उ०) जो प्रमाण विद्यमान वस्तुओं के अस्तित्व को प्रत्यक्ष करता है वही प्रमाण वस्तुओं के अभाव का ज्ञान कराता है।

(प्र०) न्यायदर्शन में कितने पदार्थ माने जाते हैं?

(उ०) **प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयव तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसविगमः ॥१॥**

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, शास्त्रार्थ वह जल्प कहलाता है, वह वाद जो हार-जीत के लिए युक्ति शून्य हो वितण्डा, वह बहस जिसमें एक पक्ष वाला अपना कोई सिन्द्धांत न रखताहो केवल दूसरों के सिद्धांत का खण्डन करे हेत्वाभास, छल अर्थात् धोखा, जाति निग्रह स्थान अर्थात् हराने का चिन्ह इन सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

(प्र०) ज्ञान सदा प्रमेय का होगा और उसी से मुक्ति होगी। शेष सब कारण उसके साधन हैं। इस वास्ते सबसे प्रथम प्रमेय का वर्णन करना चाहिये था कि जिसके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो, प्रमाण का पहिले वर्णन करना हमारी सम्मति में ठीक नहीं है।

(उ०) क्योंकि सदा सोना खरीदने से पहिले कसौटी का पास होना आवश्यक है और बिना कसौटी के सोने के खरे-खोटे होने का ज्ञान नहीं होसकता। इसी प्रकार प्रमाण के बिना प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे ही प्रमाण के बिना यह ज्ञान नहीं हो सकता और न यह ज्ञान है कि ये प्रमेय आत्मा के लिये लाभदायक है अथवा

हानिकारक है। इस कारण सबसे पूर्व प्रमाण का वर्णन किया है।

(प्र०) प्रमाण और प्रमेय के बिना अन्य पदार्थों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ जो संसार में विद्यमान हैं वह सब प्रमेय के अन्तर्गत आजाते हैं।

(उ०) संसार में दुःख और सुख का अनुभव मन को होता है, इसलिये किसी वस्तु के देखने से पहले यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह वस्तु सुख अथवा दुःख का कारण है और ऐसा ही ज्ञान संशय कहलाता है, अतएव संशय का वर्णन आवश्यक है, इसके निवृत्यर्थ निर्णय की आवश्यकता है।

(प्र०) पुनः प्रयोजन क्यों कहा ?

(उ०) यदि निर्णय करने का प्रयोजन नहीं हो तो कोई बुद्धिमान् तो क्या, कोई मूर्ख भी इतना परिश्रम नहीं करेगा। मनुष्य से प्रत्येक कर्म कराने वाला प्रयोजन ही सब से मुख्य है। जब मनुष्य दुःख से छूटना और सुख को प्राप्त करना अपना प्रयोजन नियत कर लेता है तब उसके कारण की खोज करता है। जब प्रयोजन ही न हो तो किसके पूर्ण करने के लिए विद्यार्थीपन का कष्ट सहन किया जाय ? इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के निर्णयार्थ जो आवश्यक था उसका वर्णन महात्मा गौतम जी ने न्यायदर्शन में कर दिया है। इन पदार्थों का विभाग व वर्णन भली प्रकार इस ग्रन्थ में आ जायगा। महात्मा गौतमजी के न्याय-दर्शन का प्रथम सूत्र मूल और शेष सब सूत्र उसकी व्याख्या हैं। जो मनुष्य इस दर्शन को पढ़ना चाहें उनको इन तीन बातों का ध्यान रखना उचित है।

प्रथम तो उद्देश्य अर्थात् किसी वस्तु का नाम वर्णन किया जाता है, तदनन्तर उसका लक्षण किया जाता है, पुनः लक्षण की परीक्षा करी जाती है अर्थात् लक्ष्य घटता है अथवा नहीं। और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जब परीक्षा की जाती है तब उसमें तीन प्रकार के

सूत्र तूर्वयत्त, उत्तरपत्त, और सिद्धान्त आते हैं।

(प्र०) उद्देश्य किसे कहते हैं?

(उ०) जब किसी वस्तु का नाम बतलाया जाय उसे उद्देश्य कहते हैं, जैसे किसी ने कहा कि पृथ्वी है?

(प्र०) लक्षण किसको कहते हैं?

(उ०) जो गुण एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक करदे अथवा दूसरों को इससे विभिन्न करदे, वह लक्षण कहाता है।

(प्र०) परीक्षा किसे कहते हैं?

(उ०) किसी वस्तु के लक्षण की, उस वस्तु में विद्यमानता के लिये जांच की जाती है और यह देखा जाता है कि इस लक्षण में कोई दोष तो नहीं है, उसे परीक्षा कहते हैं।

(प्र०) लक्षण में जो दोष होते हैं वे कितने प्रकार के होते हैं?

(उ०) तीन प्रकार के। प्रथम 'अतिव्याप्ति' अर्थात् वह गुण जो कि अन्य वस्तुओं में भी देखा जाय। जैसे किसी ने कहा, "गौ किसे कहते हैं दूसरे ने कहा, 'सींग वाले जीव को कहते हैं।' अब यह लक्षण प्रत्येक सींग वाले जीव में वर्तमान हैं। अतः वह लक्षण अतिव्याप्त हो गया अर्थात् लक्ष्य व्यक्ति से अन्यों में भी चला गया। द्वितीय 'अव्याप्त' अर्थात् वह गुण जो गुणी में विद्यमान न हो, जैसे कोई मनुष्य पूछे कि अग्नि किसे कहते हैं उत्तर मिले कि जो भारी गुरु हो। अग्नि में गुरुत्व नहीं अतः यह लक्षण भी उचित नहीं। तृतीय 'असम्भव' जैसे किसी ने पूछा अग्नि किसे कहते हैं तो दूसरे ने कहा कि जिसमें शीतलता हो। क्योंकि अग्नि में शैत्य नहीं होता, अतः यह लक्षण भी युक्त नहीं। इन तीन प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष यदि लक्षण में हो तो वह लक्षण ठीक नहीं होगा।

(प्र०) तत्वज्ञान और दुःख में कोई विपरीतता नहीं है तो तत्वज्ञान से मुक्ति किस प्रकार से हो सकती है और तत्वज्ञान के होते ही तुरन्त मुक्ति हो जाती है अथवा कुछ काल के पश्चात्?

(उ०) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

अर्थ—तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है और मिथ्या ज्ञान के नाश से राग-द्वेषादि दोषों का नाश हो जाता है, दोषों के नाश से प्रवृति का नाश हो जाता है प्रवृति के नाश होने से कर्म बन्द हो जाते हैं, कर्म के न होने से प्रारब्ध का बनना बन्द हो जाता है। प्रारब्ध के न होने से जन्म-मरण नहीं होते और जन्म-मरण ही न हुए तो दुख-सुख किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि दुःख तब ही तक रह सकता है जब तक मन है और मन में जब तक राग-द्वेष रहते हैं तब तक ही सम्पूर्ण काम चलते रहते हैं। क्योंकि जिन अवस्थाओं में मन ही न विद्यमान हो उनमें दुःख-सुख हो ही नहीं सकता; क्योंकि दुःख के रहने का स्थान मन है। मन जिस वस्तु को आत्मा के अनुकूल समझता है, उसके प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसी का नाम राग है। वह जिस वस्तु से प्यार करता है यदि वह मिल जाती है तो वह सुख मानता है। यदि नहीं मिलती तो दुःख मानता है। जिस वस्तु की मन इच्छा करता है उसके प्राप्त करने के लिये दो प्रकार के कर्म होते हैं। या तो वह हिंसा व चोरी करता है या दूसरों का उपकार। उपकार व दान आदि सुकर्मों का फल सुख और दुष्कर्मों का फल दुःख होता है परन्तु जब तक दुःख-सुख दोनों का जोग न हो तब तक मनुष्य शरीर नहीं मिल सकता।

(प्र०) इसका क्या प्रमाण है कि जीवात्मा किसी समय में दुःख से मुक्त हो सकता है। हम दुःख को जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म मानते हैं?

(उ०) क्योंकि सुषुप्त अवस्था में जबकि मन और इन्द्रिय कार्य नहीं करते उस समय दुःख व सुख ज्ञात नहीं होते। इससे विदित होता है कि दुःख व सुख जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं, अतः जो स्वाभाविक धर्म नहीं है, उसका नाश होना सम्भव है।

(प्र०) जीव का स्वाभाविक धर्म दुःख क्यों नहीं ?

(उ०) इसलिये कि वह प्रतिक्षण वर्त्तमान नहीं रहता क्योंकि जो स्वाभाविक है वह कभी भी दूर नहीं हो सकता।

(प्र०) प्रमाण कितने प्रकार के होते हैं ?

(उ०) प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, अर्थात् जो इन्द्रियों के द्वारा अनुभव हो, दूसरा अनुमान जो अटकल व सम्बन्ध से जाना जाय, तीसरा अनुमान जो मिसाल देकर सदृशता बताई जाय और चतुर्थ शब्द जो विद्वान् (आप्त) मनुष्य के उपदेश से जाना जाय।

(प्र०) हम प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को नहीं मानते क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना और प्रमाण ठीक नहीं मिलते। प्रायः भूल (भ्रांति) हो ही जाती है ?

(उ०) यदि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को स्वीकार न करोगे तो बहुत से पदार्थों का ज्ञान न हो सकेगा। यथा—वे पदार्थ जो कि अत्यन्त समीप हैं जैसे आंख में सुर्मा और बहुत दूर के पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये अन्य प्रमाणों का मानना आवश्यक है।

(प्र०) यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मान लिये जायें तो क्या हानि है।

(उ०) अनुमान भी प्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान न हो सकेगा। यथा-वे साधारण मनुष्य कार्य कर सकते हैं। प्रत्यक्ष मनुष्य व पशुओं के लिये एक समान है इसलिये जो मनुष्य धर्म का निर्णय करना चाहते हैं उनके लिये तो यह दोनों प्रमाण व्यर्थ हैं क्योंकि जीवात्मा मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों से अनुभव न होने के कारण प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता और प्रत्यक्ष न होने पर अनुभव भी नहीं हो सकता। इसलिये शब्द-प्रमाण की आवश्यकता है।

(प्र) प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं और उसका क्या लक्षण है ?

(उ०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥४॥

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होता हो और जिसमें व्यभिचार दोष न हो और किसी प्रकार का सन्देह भी न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

(प्र०) इतना पर्याप्त है कि जो ज्ञान पदार्थ और इन्द्रियां के सम्बन्ध से पैदा हो वह प्रत्यक्ष है इसमें लक्षण को अधिक बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है ?

(उ०) यदि इतना कहा जावे कि जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से पैदा हो वह प्रत्यक्ष है तो भ्रांति में भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा जैसे कि दूर से बालू को पानी जान लेने में बालू और आंख का सम्बन्ध है। दूर से आंख उसको पानी अनुभव करती है किंतु निकट जाने पर बालू ज्ञात होता है तो उस अनिश्चित ज्ञात (भ्रांति) को प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। इस वास्ते बतला दिया कि वह ज्ञान व्यभिचारादि दोष रहित हो।

(प्र०) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होगा वह तो प्रमिति कहलायेगा, प्रमाण कैसे हो सकता है ?

(उ०) इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होगा वह प्रयक्ष ज्ञान है और उसका कारण अर्थात् उसके होने का साधन इन्द्रियां प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(प्र०) प्रत्यक्ष कितने प्रकार का होता है ?

(उ०) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कारण से पांच प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से होने वाला प्रत्यक्ष, जिससे वस्तु का आकार लम्बाई चौड़ाई इत्यादि का ज्ञान होता है। द्वितीय श्रोत्र प्रत्यक्ष, कानों के द्वारा होता है, जिसमें शब्द के अच्छे-बुरे और उसके भाव का ज्ञान होता है। तृतीय

ाण प्रत्यक्ष जो नासिका द्वारा होता है, इससे सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान ाता है। चतुर्थ रसना (जिह्वा) से जो प्रत्यक्ष होता है, जिसके द्वारा ड्वे, मीठे, कटु इत्यादिक रसों का ज्ञान होता है। पंचम जो प्रत्यक्ष ाल के द्वारा होता है जिसको छूना कहते हैं, उससे गर्मी-सर्दी-नर्म यादिक का ज्ञान होता है।

(प्र०) क्या प्रत्यक्ष प्रमाण से जो ज्ञान होता है वह संदिग्ध भी ता है जिससे यह लक्षण सिद्ध हो कि यह ज्ञान निश्चित है ?

(उ०) दूर से किसी वृक्ष के ठुण्ठ को देखकर बहुधा विचार होता कि वह मनुष्य है वा ठुंठ ? इसी प्रकार भ्रान्ति भी इन्द्रियों के सम्बन्ध से होती है इसलिये जो ज्ञान निश्चित अर्थात् निर्भ्रान्त जिसमें ांति का लेश न हो, इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु का होता है और रमें फर्क नहीं पाया जाय और वह नाम सुनकर स्मृति सरीखा न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रियें प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं।

(प्र०) अनुमान किसे कहते हैं, उसका लक्षण क्या है ?

(उ०) **अर्थ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्।**

पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च ॥५॥

अर्थ—जिस ज्ञान की वास्तविक दशा प्रत्यक्ष द्वारा परस्पर म्बन्ध को जान कर, एक को देखकर दूसरे से जानी जाती है वह नुमान कहलाता है।

(प्र०) अनुमान कितने प्रकार के होते हैं ?

(प्र०) अनुमान तीन प्रकार का होता है। पहला 'पूर्ववत्' जहां रण द्वारा कार्य का ज्ञान प्राप्त किया जाय जैसे घनघोर मेघों को खकर वृष्टि के होने का मान होता है अर्थात् 'पहले जब इस प्रकार मेघ आया था तो वृष्टि हुई थी, अब फिर वैसा ही बादल आया है तः अब भी वर्षा होगी" यह तो वृष्टि होने का ज्ञान है यह पहले बादल को देखकर किया गया था। अतएव "पूर्ववत् अनुमान"

कहलाता है । द्वितीय 'शेषवत्' जहां कार्य को देखकर कारण का अनुमा
किया जाय । नदी को बहुत वेग से तथा मटीले जल से बहती हुई दे
कर ज्ञान होता है कि ऊपर पर्वत में वर्षा हुई है। तृतीय "सामान्यत
दृष्टम्" किसी स्थान में दो वस्तुओं के सम्बन्ध को देखकर दूसरे स्था
पर उनमें से एक को देखकर दूसरे का अनुमान करना। जैसे घर
आग से धुंआ निकलता देखा है। वन में दूसरे धुएं को निकल
देखकर यह जान लेना कि वहां आग है--इसी प्रकार ऐसी वस्तु
जिनका कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ किन्तु सम्बन्ध द्वारा जानी जाती हैं
जैसे जो जो वस्तु संसार में परिणाम वाली (अर्थात् बदलने वाली) देख
जाती हैं। वे सब उत्पन्न हुई हैं। यथा-एक बालक उत्पन्न हुआ और
बढ़ने लगा, तदनन्तर मर गया। इससे पता लगा कि जो वस्तु परिणा
है यह नाशवान् है। अब इसी ज्ञान से संसार (जगत्) के उत्पन्न हो
और नाशवान् होने का अनुमान किया। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति
कहीं प्रत्यक्ष नहीं देखा तथापि यावत् वस्तु संसार में परिवर्तनशील
वे उत्पत्तिमान होती हैं—यह ज्ञान उत्पन्न वस्तुओं के परिवर्तन में
लेते हैं और जगत् को परिवर्तन स्वभाव वाला देखकर इसी अनुम
से उत्पन्न और नाश वाला नश्वर मानते हैं। अनुमान के सम्बन्ध
बहुत विवाद हो सकता है किन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से इतना
पर्याप्त है।

२१ (प्र०) उपमान किसे कहते हैं।

उत्तर—प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥६॥

अर्थ—स्पष्ट गुणों के मिलाने से जो एक वस्तु का ज्ञान प्र
होता है उसे 'उपमान' अर्थात् सादृश्य कहते हैं। यथा किसी ने
है कि गौ के तुल्य "नीलगाय" होती है। जब वह पुरुष जङ्गल में
तो नीलगाय को गौ के सदृश देखकर जान लिया कि यह 'नीलग
है इस प्रकार बाह्य स्पष्ट गुणों की तुलना करना उपमान कहलाता

२[1] (प्र०) 'उपमान' प्रमाण से क्या लाभ है ?

(उ०) संज्ञी (नामवाला) और संज्ञा (नाम) का सम्बन्ध इसी से पैदा होता है क्योंकि गाय के सदृश होने से नीलगाय और माष के से पत्तों वाली होने से 'मषपर्णी' आदि सैकड़ों औषधियां उपमान से ही जानी जाती हैं, इसी प्रकार और और अवसरों पर भी उपमान से काम निकलता है।

(प्र०) शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर—आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

अर्थ—'आप्त' उस विद्वान् तथा सत्यवक्ता को कहते है जो पदार्थों के गुणों को जानकर उसकी सत्ता और लाभों का वर्णन करे। अर्थात् जिस वस्तु को विद्या सम्बन्धी अन्वीक्षण से जैसा जाना है उसको वैसा ही बतलाने वाले का नाम 'आप्त' है। यह लक्षण ऋषि, आर्य्य, मलेच्छादि सबके लिये सङ्गत हो सकता है। और सब उसी के अनुकूल आचरण करते हैं और संसार के हरएक पदार्थ को इन प्रमाणों से जानकर काम करना चाहिये। आप्त से उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं।

(प्र०) शब्द कितने प्रकार का है ?

उत्तर—स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

अर्थ—'शब्द' दो प्रकार का है। प्रथम वह जिनका अभिप्राय संसार में इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। द्वितीय वह जिनका अर्थ इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। यह दोनों प्रकार के 'शब्द' प्रमाण कहलाते हैं। यथा किसी ने कहा कि जिसको पुत्र की इच्छा हो वह यज्ञ करे। यहां यज्ञ द्वारा पुत्र का उत्पन्न होना या न होना इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण हो सकता है। दूसरे किसी ने कहा कि जिसको स्वर्ग की कामना हो तो वह यज्ञ करे—सो स्वर्ग की प्राप्ति इन्द्रियों से नहीं जानी

जा सकती। क्योंकि स्वर्ग सुख का नाम है और सुख किसी इन्द्रिय का विषय नहीं ॥ ८ ॥

(प्र०) इन प्रमाणों से कौन २ सी वस्तुएँ जानी जा सकती हैं ?

उत्तर—आत्म शरीरेन्द्रियार्थ बुद्धि मनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

अर्थ—वह बारह वस्तु 'प्रमेय' अर्थात् प्रमाणों से जानी जा सकती हैं। प्रथम 'आत्मा' दो प्रकार का है एक तो वह है जो सारे संसार में व्याप्त है और सर्वज्ञ है, दूसरे वह जो कर्मों का फल भोगने वाला है। जिसके भोग का आयतन (मकान) यह शरीर है और भोग के साधन रूप इन्द्रियां हैं और भोग्य 'पदार्थ' अर्थात् जो इन्द्रियों के विषय हैं-वे हैं जो इन्द्रिय द्वारा अनुभव किये जाते हैं और भोग बुद्धि अर्थात् 'ज्ञान' है। सब पदार्थ इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः परोक्ष पदार्थों का अनुभव कराने वाला 'मन' है और मन में राग-द्वेष दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं जो दोष कहलाते हैं। जिससे प्रवृत्ति' अर्थात् किसी पदार्थ के त्याग व अङ्गीकार करने का प्रयत्न उत्पन्न होता है। प्रेत्य भाव को जन्म-मरण कहते हैं। अच्छे-बुरे: कर्मों का उपभोग 'फल' कहलाता है। फल दो प्रकार का होता है। एक 'दुःख' जिसे बंधन कहते हैं। द्वितीय 'अपवर्ग' जिसे मुक्ति कहते हैं। पर अधिक वाद-विवाद आगे सूत्रों में आयेगा ॥ ९ ॥

(प्र०) आत्मा के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर—इच्छा-द्वेष--प्रयत्न-सुख--दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ १० ॥

अर्थ—आत्मा के यह लिङ्ग (चिन्ह) हैं—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान। यह छः आत्मा के लिङ्ग अर्थात् लक्षण हैं।

(प्र०) इच्छा किसे कहते हैं ?

(उ०) जिस प्रकार की वस्तु से पहिले सुख मिला था, उसी प्रकार की वस्तु को देखकर प्राप्त करने के विचार को 'इच्छा' कहते हैं ?

(प्र०) द्वेष किसे कहते हैं ?

(उ०) जिस प्रकार की वस्तु से पहिले कष्ट हुआ था उसी प्रकार की वस्तु को देखकर, दूर ही से अपनयन का विचार द्वेष कहलाता है।

(प्र०) प्रयत्न किसे कहते हैं ?

(उ०) दुःख के कारणों को दूर और सुख के कारणों को प्राप्त करने की क्रिया को प्रयत्न कहते हैं।

(प्र०) ज्ञान किसे कहते हैं ?

(उ०) आत्मा के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों को पृथक २ जानना ज्ञान कहलाता है। सुख-दुःख का लक्षण सूत्रों में ही वर्णन करेंगे।

(प्र०) शरीर किसे कहते हैं।

उत्तर—"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" ॥ ११ ॥

अर्थ—जहां बैठकर इन्द्रिय पदार्थ के लिये चेष्टा करती है–उसे शरीर कहते हैं।

(प्र०) चेष्टा किसे कहते हैं ?

(उ०) इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति या त्याग के प्रयत्न का नाम 'चेष्टा' है।

(प्र०) इन्द्रियों का आश्रय क्यों कहा ?

(उ०) जिसके कृपा कटाक्ष से अनुगृहीत होकर अपने विषयों को इन्द्रियां प्राप्त करती हैं, वह उनका आश्रय अर्थात् अवलम्बन है और वही शरीर है।

(प्र०) इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उ० घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥१२॥

अर्थ—जिससे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है- वे क्रमशः घ्राण (नाक), रसना (जिव्हा), चक्षुः (नेत्र), त्वचा (खाल) और श्रोत्र (कान) कहलाते हैं।

५५(प्र०) इन्द्रियों का लक्षण कहो ?

(उ०) जो अपने विषय को ग्रहण कर सके।

(प्र०) यह इन्द्रियां किन २ से उत्पन्न होती है ?

(उ०) पञ्च भूतों से अर्थात अग्नि से आँख, पृथ्वी से नाक, वायु से खाल, पानी से रसना और आकाश से कान उत्पन्न होते हैं और यह पाचों इन्द्रियां अपने २ विषय ग्रहण करती है।

(प्र०) भूत किसे कहते या कौन से हैं ?

उत्तर—पृथिव्या पस्तेजो वायुराकाशमिती भूतानि॥ १३ ॥

अर्थ—भूमि-जल-अग्नि-वायु और आकाश यह पांच भूत हैं।

(प्र०) इन भूतों के कौन से गुण हैं जिनको इन्द्रियां ग्रहण करती हैं।

उत्तर—गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

अर्थ—पृथिव्यादि के गुण इन्द्रियों के अर्थ कहलाते हैं। पृथिवी का गुण गन्ध है वह (गन्ध) पृथ्वीन्दिय-घ्राण (नाक) का अर्थ है। जल का गुण रस है वह जलेन्द्रिय-रसना (जिह्वा) का अर्थ है। तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप है वह तेजसइंद्रिय-नेत्र का अर्थ है। वायवोयेन्द्रिय-त्वचा का अर्थ स्पर्श है जो कि वायु का गुण है। शब्द आकाश का गुण है अतः आकाश के इन्द्रिय श्रोत्र कान का अर्थ है। यहां 'अर्थ' का अर्थ 'विषय' है।

(प्र०) बुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

अर्थ—बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान यह अलग २ वस्तु नहीं है किन्तु यह एक ही है।

(प्र०) क्या बुद्धि भूतों से बनी हुई है ?

(उ०) यदि भूतों से उत्पन्न होती तो जड़ और आत्मा का कारण (साधन) होती और जड़ रूप कारण को ज्ञान होना असम्भव है। यदि कहा जाय कि द्वितीय चेतन वस्तु है तो भी युक्त नहीं। क्योंकि शरीर त्वचादि इन्द्रिय के संघात (समुदाय) से एक ही चेतन है। अतः बुद्धि चेतन के गुण अर्थात् ज्ञान ही का नाम है ?

(प्र०) मन किसे कहते हैं ?

उत्तर—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

अर्थ—एक काल में दो ज्ञान का ज्ञान पैदा न होना यह मन का लिङ्ग (लक्षण) है।

(प्र०) मन के मानने की क्या आवश्यकता है। सब काम इन्द्रियों से ही चल जायगा ?

(उ०) स्मृति स्मरण आदि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। परन्तु उनकी सत्ता जरूर है अतः उनका ग्रहण करने वाला कोई अन्य (साधन) इन्द्रिय अवश्य होना चाहिये जो बाह्य इन्द्रियों से भिन्न हो और वह मन है। क्योंकि किसी बाह्य इन्द्रिय का विषय स्मरण नहीं है। अपरञ्च जब हम विचार में मस्त हो जाते हैं उस समय जो पदार्थ हमारे सामने से गुजर जाते हैं हमें उन का तनिक भी ज्ञान नहीं होता इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब मन इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है तभी ज्ञान होता है और जब नहीं रखता तब ज्ञान भी नहीं होता। यदि मन कोई पृथक न होता तो केवल इन्द्रियों से ज्ञान होता और एक ही काल में पाँचों इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान भी हुआ करता। पर ऐसा होता नहीं, अतः मन को मानना पड़ता है।

(प्र०) प्रवृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रवृत्तिर्वाग् बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥ १७ ॥

अर्थ—इस सूत्र में बुद्धि से 'मन' अभिप्रेत है। मन, इन्द्रिय और शरीर का काम में लगना प्रवृत्ति कहलाती है। यदि मन अकेला काम करता है तो वह कर्म मानसिक कहलाती है, यदि मन और वाणी दोनों मिलकर उस काम को करते हैं तो वह वाचक कर्म कहलाता है, यदि मन इन्द्रिय और शरीर मिलकर काम में लगते हैं तो वह शारीरिक कर्म कहलाता है।

९० प्र०—प्रवृत्ति किस काम में होती है ?

उ०—पुण्य या पाप में, अर्थात् जो भी कर्म किया जायगा उस से पुण्य या पाप अवश्य होगा।

९१ प्र०—पुण्य किसे कहते हैं।

उ०—जिसका फल अन्त को सुख हो अर्थात् भावी सुख के कारण का नाम पुण्य है।

प्र०—पाप किसे कहते हैं ?

उ०—जिसका फल आगे को दुःख हो।

प्र०—दोष किसे कहते हैं ?

उ०—प्रवर्तनालक्षणो दोषः ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रवृत्ति के कारण अर्थात् प्रवृत्ति के कराने वाले को दोष कहते हैं।

प्र०—प्रवृत्ति को कौन करवाते हैं ?

उ०—राग, द्वेष और मोह, यह तीनों जीवों की प्रवृत्ति को करवावे हैं, यही दोष हैं।

प्र०—प्रेत्य भाव का लक्षण क्या है ?

उ०—पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

इन्द्रिय और मन का शरीर के साथ जो सम्बन्ध है उसके टूट जाने का नाम प्रेत है और प्रेत के दोबारा जन्म लेने को प्रेत्यभाव,

[मरक जन्मना] कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ जीव का एक शरीर से निकलना प्रयाण कहलाता है। प्रयाण जो करता है उसे प्रेत कहते हैं और उस प्रेत का अन्य शरीर के साथ जो सम्बन्ध का पैदा करना है वह प्रेत्यभाव [आवागमन] कहलाता है। सो यह अनादि जन्म से लेकर मुक्ति की अवस्था तक बराबर लगा रहता है।

(प्र०) प्रेत्यभाव के होने में क्या प्रमाण है ?

(उ०) बुद्धि के संस्कार और कर्मों का भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग। क्योंकि जीव का स्वभाव इस प्रकार का है कि संग (संसर्ग) से संस्कृत होता है अतः जैसे जन्म में जीव रहता है उसी प्रकार के स्वभावों के संस्कार मन पर अङ्कित हो जाते हैं जो कि बालकों की स्मरण शक्ति और प्राकृतिक (स्वाभाविक) वैचित्र्य पर विचार करने से स्पष्ट अनुभूत हो सकते हैं। अधिक विवाद परीक्षा प्रकरण में आवेगा।

(प्र०) फल किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रवृत्ति दोष जनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न जो सुख-दुःख का ज्ञान है वह फल कहलाता है। सुख तथा दुःख कर्म का विपाक अर्थात् शुभाशुभ परिणाम है और यह अर्थात् सुख और दुःख] शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय और मन की सत्ता में होते हैं। अतएव शरीरादि के द्वारा ही फल मिलता है। वह जो हमें सुख-दुःख तथा मानापमानादि सहन करने पड़ते हैं यह सब फल रूप हैं। अब "यह फल हमें प्राप्त करना चाहिये और इसे त्यागना चाहिये" इसके लिये फल के पैदा होने से पहले विचार करना चाहिये।

(प्र०) दुःख किसे कहते हैं ?

उत्तर—बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

अर्थ—स्वतंत्रता का न होना और विकल्प का होना दुःख

कहलाता है। अर्थात् मन को जिस वस्तु की इच्छा हो उसके न मिलने का नाम दुःख है।

प्र०—स्वतन्त्रता का दुःख से क्या सम्बन्ध है ?

उ०—जब मनुष्य को भूख लगे और खाना उपस्थित हो तो वह क्षुधा दुःख नहीं कहलाती। प्रत्युत: खाने (भोजन) की सत्ता में क्षुधा न्यून होना दुःख का कारण होता है परन्तु जब वह भोजन विद्यमान न हो तब भूख अत्यन्त दुखदायिका प्रतीत होती है। द्वितीय जैसे मजदूर (कर्मकार) लोग अपने घर में रहते हैं उन्हें कुछ कष्ट प्रतीत नहीं होता परन्तु यदि उनको उस घर से बाहर जाने का निषेध कर दिया जाय तो वह घर उनका कष्ट का घर हो जायगा।

प्र०—यदि स्वतन्त्रता का न होना ही दुःख है तो जीव कदापि मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा के नियमों में बँधा हुआ है ?

उ०—परमात्मा जीव के भीतर-बाहर विद्यमान है अतः उससे सुख प्राप्ति के लिए जीव को किसी साधन (सामग्री) की आवश्यकता नहीं। वह नियमित नहीं परन्तु प्राकृतिक सुख की प्राप्ति के लिए मन इन्द्रिय और भोग्य सामिग्री की आवश्यकता है। उनमें से एक की भी न्यूनता से अत्यन्त दुःख प्रतीत होता है।

प्र०—मुक्ति क्या वस्तु है ?

उत्तर—तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

अर्थ—उस [दुःख] के पंजे [चुङ्गल] से सर्वथा छूट जाने का नाम अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है।

प्र०—क्या दुःख के अत्यन्ताभाव का नाम मुक्ति है ?

उ०—यदि दुःख के अत्यन्ताभाव को मुक्ति माना जाय तो वह मुक्ति चैतन्य जीवात्मा को नहीं हो सकती परन्तु जड़ वस्तुओं का धर्म है क्योंकि जड़ वस्तुओं में मन के न होने से कभी दुःख का नाम मात्र भी नहीं होता। अतः दुःख होकर सर्वथा दूर होजाना मुक्ति कहलाता है

६७ प्र०—यदि दुःख का होकर छूट जाना मुक्ति है, ऐसा माना जाय तो सुषुप्ति काल में जाग्रतावस्था के दुःख छूट जाते हैं अतः मुक्ति कहलाएगी ?

उ०—सुषुप्तावस्था का नाम मुक्ति नहीं हो सकती किन्तु मुक्ति के लिये एक दृष्टान्त हो सकता है क्योंकि सुषुप्तावस्था में दुःखों का बीज सूक्ष्म शरीर विद्यमान है और मुक्ति की दशा में सूक्ष्म शरीर नहीं रहता।

प्र०—मुक्ति में दुख नाश हो जाता है तो संसार में सब लोग मुक्त हो जाने चाहिये ?

उ०—अतएव ऋषि ने दुःख से सर्वथा पृथक होना मुक्ति कहा, अन्यथा दुःख के नाश को ही मुक्ति बतलाते।

प्र०—क्या एक बार दुःख से छूटकर फिर बन्धन में तो जीव नहीं आता ?

उ०—आता है, क्योंकि साधनों से निष्पन्न मुक्ति नित्य नहीं हो सकती।

६८ प्र०—जब दुःख का लेश मात्र भी सम्बन्ध न रहा और मिथ्या ज्ञान, जो दुःखोत्पत्ति का कारण था नष्ट हो गया, तो फिर दुःख क्यों कर उत्पन्न हो सकता है ?

उ०—मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने वाला जो वेद द्वारा ज्ञात तत्वज्ञान है जब मुक्ति में वेदों की शिक्षा का अभ्यास बन्द हो गया तो जीव का ज्ञान ह्रासभाव को प्राप्त होता गया और अन्तः अपनी स्वाभाविक ज्ञान की सीमा तक पहुँच गया जिससे फिर बन्धन में आना सम्भव हो गया। अधिक विवाद आगे आयेगा।

प्र०—संशय अर्थात् सन्देह किसे कहते हैं ?

उत्तर—समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

अर्थ—जहाँ सामान्य गुण तो मिलजाय और विशेष धर्मों (गुणों) को जानने के लिये जो विचार उत्पन्न होता है वह संशय कहलाता है। जैसे किसी पुरुष ने दूर से स्थाणु (सूखे वृक्ष के ठुण्ठ) को देखा और पुरुष के समान स्थूल और ऊँचा देखकर यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि यह पुरुष है, या ठुण्ठ है, इस पर समीक्षा आरम्भ की। यदि मनुष्य होता तो उसके हाथ पाँव अवश्य हिलते ! अतः इसे ठीक २ जानना चाहिये।

प्र०—उस दृष्टान्त के समान धर्म कौन से हैं ?

उ०—स्थूलता और ऊँचाई साधारण धर्म हैं। और चरणादि के चालनादि विशेष धर्म हैं, जो मनुष्य में हैं और स्थाणु में नहीं।

प्र०—संशय किस दिशा में होता है।

उ०—जब तक पदार्थ का तात्विक ज्ञान नहीं होता, तथा जो नर आत्मा के गुणों से अनभिज्ञ है उसको इस बात का सन्देह है या नहीं परन्तु जब उसको आत्मा के गुणों का ज्ञान हो जाता है तब उसको सन्देह नहीं होता।

प्र०—जब कि मनुष्य को मुक्ति के लिए ही परिश्रम करना चाहिये और कामों में आयु व्यतीत करना व्यर्थ है तो क्यों इतने व्यर्थ के झगड़े करे।

उ०—आत्मा का प्राकृतिक पदार्थों से किसी न किसी समय सम्बन्ध अवश्य पड़ता है जिससे आत्मा को संशय उत्पन्न होता है कि क्या यह वस्तु मेरे लिये लाभकारक है या हानिकारक ? यदि लाभदायक प्रतीत होगी तो उसकी प्राप्ति की अवश्य इच्छा होगी। और यदि हानिकारक होगी तो उसके त्याग का यत्न होगा। अतः मनुष्य को सन्दिग्ध विचार सर्वथा दूर कर देना चाहिये जिसका उपाय तत्वज्ञान बिना नहीं हो सकता।

प्र०—प्रयोजन किसे कहते हैं ?

७। "उ०—यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्" ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस वस्तु को आत्मा के अनुकूल या प्रतिकूल जानकर उसको ग्रहण करने का या त्याग करने का विचार जिस लिये उत्पन्न होता है, वही प्रयोजन का उद्देश्य कहलाता है ?

प्र०—दृष्टान्त किसे कहते हैं ?

उ०—लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो लोग साधारण रूप से किसी बात को मानते हैं वे लौकिक कहलाते हैं और जो लोग हर एक पदार्थ के गुणों को बुद्धि तथा तर्क द्वारा जानकर निर्णीत करते हैं वे परीक्षक कहलाते हैं। जिस पदार्थ को लौकिक और परीक्षक एक-सा समझते हैं, उसी को दृष्टान्त कहते हैं। दृष्टान्त के विरोध से ही प्रतिपक्षियों के सिद्धान्त खण्डन किये जाते हैं और दृष्टान्त के ठीक होने से अपने अङ्गीकृत सिद्धान्तों को पुष्ट [दृढ़] किया जाता है।

७५ प्र०—सिद्धान्त किसे कहते हैं ?

उ०—तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

अर्थ—सिद्धान्त तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम तन्त्र सिद्धान्त द्वितीय अधिकरण सिद्धान्त, तृतीय अभ्युपगम सिद्धान्त और तन्त्र सिद्धान्त दो प्रकार का होता है।

प्र०—तन्त्र किसे कहते हैं ?

उ०—तन्त्र उसे कहते हैं कि बहुत से ऐसे पदार्थों का जिसमें एक का दूसरे से सम्बन्ध हो वर्णन आये, उसको तन्त्र कहते हैं शास्त्रों को जिनमें हर एक आवश्यक बात का, जो मनुष्य को मुक्त करने के लिये आवश्यक है, वर्णन और परीक्षा विद्यमान है, तन्त्र कहते हैं।

७६ प्र०—दो प्रकार के तन्त्र सिद्धान्त कौन से हैं।

उ०—सर्वतन्त्र प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तर-

भावात् ॥ २७ ॥

अर्थ—एक तो सर्वतन्त्र सिद्धांत कहलाता है और दूसरा प्रतितन्त्र सिद्धांत ।

प्र०—सर्वतन्त्र सिद्धांत किसे कहते है ?

उ०—सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस बात के विरुद्ध किसी शास्त्र में प्रमाण न मिले और उसको एक शास्त्र ने उपपादन किया हो उसे सर्वतन्त्र सिद्धांत [सर्वदेशी] कहते हैं। यथा नासिका [नाक] आदि इन्द्रियों से गन्धादि का ज्ञान होता है इसके विरुद्ध किसी शास्त्र में प्रमाण नहीं मिलेगा । या पृथ्वी आदि पाँच भूत हैं इत्यादि । हर एक बात को प्रमाण द्वारा जाँचकर स्वीकार करना चाहिये ।

प्र०—प्रतितन्त्र सिद्धांत किसे कहते हैं ?

उ०—समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो किसी विचार की पुस्तकों में तो सिद्ध हो परन्तु दूसरे विचार के शास्त्र वाले उसका खण्डन करें, तो वह प्रतितन्त्र सिद्धांत अर्थात् एकदेशी सिद्धांत कहलाता है। यथा नैयायिक लोग संसार की उत्पत्ति अपने ही कर्मों से मानते हैं और सांख्य वाले उसके विरुद्ध कार्य को नित्य मानते हैं ।

प्र०—अधिकरण सिद्धांत किसे कहते हैं ।

उ०—यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस बात के सिद्ध हो जाने से अन्य बातें स्वयं सिद्ध हो जायें और उसके सिद्ध किये बिना सिद्ध न हों अर्थात जिसकी सिद्धि

अन्य की सिद्धि पर ही निर्भर हो जिसकी सिद्धि स्वीकृति होने से और बातें स्वतः सिद्धि हो जाँय वह अधिकरण सिद्धान्त है। यथा—शरीर, इन्द्रियों से जानने वाला आत्मा पृथक है क्योंकि दर्शन या स्पर्शन से एक ही वस्तु को जानने से प्रतीत होता है यदि आत्म शरीर तथा इंद्रियों से पृथक न होता तो इन्द्रियों को अपने नियत विषय का ज्ञान तो होता परन्तु जिस अर्थ को दूसरे इन्द्रियों ने ग्रहण किया है उसका ज्ञान न होता। जैसे एक वस्तु बूढ़े को आँख से दीखती है और हाथ से पकड़ कर कहता है कि जिसको देखा था उसे उठाता हूँ—यदि शरीर और इन्द्रियों से पृथक आत्मा कोई वस्तु न होती और शरीर तथा इन्द्रिय ही आत्मा होती तो ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिये था, क्योंकि दिखाई तो आँख से दिया था और उठाया गया हाथ से और कहता है कि जिसको मैंने देखा था उसे उठाता हूँ—अतः यह सिद्ध हुआ कि हर एक इन्द्रि-यादि द्वारा जानने वाला कोई और है। इसी का नाम अधिकरण सिद्धान्त है।

प्र०—नियत विषय किसे कहते हैं ?

उ०—ज्ञाता और ज्ञान से भिन्न किसी द्रव्य में रहने वाले जो जो गुण हैं वे नियत विषय हैं—यह सब विषय आत्मा के शुद्ध होने से शुद्ध हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

प्र०—अभ्युपगम सिद्धान्त किसे कहते हैं ?

उ०—अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धांतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—साधारण रूप से किसी वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् उसके धर्मों की परीक्षा का आरम्भ कर दिया जाय तो वह अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। यथा "शब्द द्रव्य है" ऐसा मान कर यह परीक्षा करना कि शब्द रूप द्रव्य नित्य है या अनित्य है—शब्द की सत्ता को स्वीकार करके उसके नित्यत्व और अनित्यत्व का विचार करना अभ्यु-

पगम सिद्धान्त कहलाता है।

(प्र०) अवयव किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥३२॥

अर्थ—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन यह पाँच अवयव हैं कि जो अनुमान के प्रमाण में प्रयुक्त किये जाते हैं। या इन पाँचों के समुदाय को अनुमान कहते हैं। किन्तु कोई २ नैयायिक दश अवयव अनुमान के मानते हैं। इन पांच के अतिरिक्त अन्य पाँच अवयव यह हैं, यथा-जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयाव्युदास अर्थात् संदेह के अपाकरण का विचार।

(प्रश्न) प्रतिज्ञा किसे कहते हैं ?

उ०—साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

अर्थ—ज्ञेय (जानने योग्य) धर्म से धर्मी को निर्देश करना प्रतिज्ञा कहलाती है। यथा-कहा जाय कि शब्द अनित्य है, अथवा आत्म चैतन्य है, इत्यादि।

(प्र०) हेतु किसे कहते हैं ?

उ०—उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसनं हेतुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—उदाहरण के साधर्म्य अर्थात् सादृश्य से साध्य को सिद्ध करना हेतु अर्थात् युक्ति कहलाती है और जो धर्म साध्य हो उसी धर्म को उदाहरण में दिखला कर उस धर्म को सिद्ध करने की यही युक्ति है। जैसे प्रतिज्ञा में कहा था कि शब्द अनित्य है उसको युक्ति यह बतलाना कि उत्पत्तिमान् होने से है क्योंकि जो वस्तु उत्पत्ति वाली है वह सब नाश वाली देखी जाती है।

(प्र०) क्या हेतु उदाहरण की सदृशता से होता है ?

उत्तर—तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

अर्थ—उदाहरण के विरोध से भी यदि किसी वस्तु का प्रमाण

वर्णन किया जाय तो वह भी हेतु अर्थात् युक्ति कहलाती है।

प्र०—यथा शब्द क्यों अनित्य है ?

उ०—उत्पत्तिमान होने से। इसके विरोध से पाया जाता है कि जो उत्पत्तिमान् नहीं है यह अनित्य नहीं है, जैसे आत्मादि।

प्र०—उदाहरण किसे कहते हैं ?

"साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्" ॥ ३६ ॥

अर्थ—साध्य के सदृश धर्मवाला होने से उन दोनों के धर्म की समता करना उदाहरण है। और साध्य दो प्रकार के होते हैं एक गुणी दूसरा गुण। जैसे किसी ने कहा कि शब्द में अनियत्व है अर्थात् वह नाश होने वाला है, दूसरे शब्द अनित्य हैं हर एक वस्तु में अनित्यत्व दिखाई पड़ना है।

प्र०—अनित्य किसे कहते हैं ?

उ०—सत्तावान् (जिसकी सत्ता सम्भव हो) को, जिसका उत्पन्न होना और नाश होना आवश्यक हो।

प्र०—अनित्यत्व क्या वस्तु है ?

उ०—उत्पत्ति का होना। अब जो वस्तु उत्पन्न हुई होगी उसमें अनित्यत्व के उपस्थित होने से उसका अनित्य होना आवश्यक है। जहाँ उत्पत्ति का अभाव होगा वहाँ अनित्यत्व का भी अभाव होगा अर्थात् कोई पैदा हुई वस्तु शेष नहीं रह सकती और न कोई अनादि वस्तु अनित्य हो सकती है।

प्र०—क्या उदाहरण धर्मों के समान होने में ही जा सकता है या कोई अन्य दशा भी है ?

उ०—तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—बहुत से अवसरों पर गुणों के वैधर्म्य से भी उदाहरण दिया जाता है। जैसे किसी ने कहा शब्द अनित्य है उत्पत्ति वाला होने से जो उत्पत्ति वाला नहीं है वह अनित्य नहीं। जैसे आत्मा परमात्मा

आदि। यह आत्मादि का दृष्टान्त विरुद्ध धर्मों से दिया गया है। क्यों कि शब्द को अनित्य सिद्ध करना था जिसके लिये उत्पत्ति वाला होना युक्ति देकर उदाहरण के समय बतलाया कि जो उत्पन्न हुआ नहीं वह अनित्य नहीं जैसे आत्मादि। इस उदाहरण से सिद्ध किया कि उत्पन्न हुई चीजें अनित्य हैं। उसका कारण स्पष्ट यह है कि एक किनारे वाला नद संसार में दृष्टि नहीं आता। इस दृष्टान्त में उत्पत्ति का अभाव ही अनित्य होने से पृथक् रखने वाला बताया गया। उत्पत्ति और नाश यह दो किनारे हर एक सत्तावान् कार्य द्रव्य के हैं। अतः एक किनारे वाला कोई हो नहीं सकता। यह जानकर ऊपर लिखा उदाहरण दिया गया। अतः जहाँ उदाहरण साध्य वस्तु के विरुद्ध धर्मों में दिया जाय जैसे उत्पत्तिवान् को अनित्य बतलाने के लिये अनादि वस्तु को शिष्यमाण (नित्य) बतलाया और जहाँ साधर्म्य लेकर किसी पदार्थ का उदाहरण देकर उसके अनुकूल धर्म को सिद्ध किया। अतः दोनों प्रकार के उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त हो सकते हैं।

(प्र०) उपनय किसे कहते हैं ?

उ०—उदाहरणापेक्षस्तथेति उपसंहारो न तथेति साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जहाँ उदाहरण में साध्य वस्तु के गुणों का सादृश्य दिखा कर यह कहा जाता है, यथा स्थाली आदि उत्पन्न हुई वस्तुयें अनित्य देखी हैं इसी प्रकार उत्पन्न हुई थाली के सदृश्य शब्द को भी उत्पन्न हुआ जाना है। इसलिये यह कहना कि जिस प्रकार थाली आदि उत्पन्न वस्तुयें अनित्य हैं इसी प्रकार अन्य शब्द भी अनित्य है। इसी प्रकार जहाँ आत्मादि अनादि वस्तुओं को नश्वर न देखकर यह विचार करना कि शब्द अनादि नहीं इसलिये यह नित्य नहीं। अनुमान के पाँचों अवयवों की ठीक बहस आगे लिखी जायगी।

(प्र०) निगमन किसे कहते हैं ?

उ०—हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचन निगमनम् ॥३९॥

अर्थ—जहां साधर्म्य से पक्ष को सिद्ध करके फिर दुहराना है उसे निगमन कहते हैं। जैसे किसी ने पक्ष स्थापना की कि पर्वत में अग्नि है, जब इस प्रतिज्ञा के लिये हेतु मांगा तो कहा धुएँ के होने से जाना जाता है। जब फिर उदाहरण पूछा कि क्या प्रमाण है कि जहां धुआं हो वहां आग होगी तब उत्तर मिलता है कि रसोईघर में आग से धुआं निकलता देखा है अतः पर्वत में भी आग से धुआं निकलना है। जहां धुआं होगा वहीं आग होगी, अतः पर्वत में अवश्य ही आग है।

प्र०—प्रतिज्ञा को पृथक् बतलाइए ?

उ०—पर्वत में आग है यह प्रतिज्ञा है (धूमवत्वात्) धूम वाला होने से, यह हेतु है। रसोई घर में आग से धुएँ का निकलना उदाहरण है, और जहां २ धुआं होगा वहीं आग होगी, यह उपनय है। ऐसे ही पहाड़ में आग है यह निगमन है।

प्र०—तर्क किसे कहते हैं ?

उ०—अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थ मूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिस वस्तु के तत्व को ठीक तौर पर न जानते हों उसके जानने की इच्छा नाम जिज्ञासा है अर्थात् मैं उस वस्तु के तत्व को जान लूँ और जिस वस्तु के जानने की इच्छा है उसके गुणोंको अलग२ करके विचार करना कि क्या यह पदार्थ इस प्रकार का है या उस प्रकार का और पदार्थ के तत्व के विचार करने में जो रुकावटें पैदा होती है जिससे ख्याल होता है कि ऐसा हो सकता है या नहीं इस प्रकार के बार २ संदेह पैदा करने का नाम तर्क है। यह जो जानने वाला जानने योग्य वस्तु को जानता है फिर उसमें विचार करता है कि क्या यह वस्तु जन्य है या अनादि है इस प्रकार जिस विशेषण का ठीक न हो उस में विचार

करना कि यदि यह जन्य है तो ऐसे किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये पैदा होता है या कोई और सबब (कारण) है।

प्र०—तर्क करने का प्रयोजन क्या है ?

उ०—वस्तु के वास्तविक रूप को जानना, क्योंकि जिस वस्तु की तात्विक स्थिति को ठीक नहीं जानते उससे प्रायः अनिष्ट होता है।

प्र०—तर्क कितने प्रकार का है।

उ०—पांच प्रकार का आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिकाश्रय, अनवस्था, तदन्य बाधताप्रसङ्ग।

प्र०—आत्माश्रय किसे कहते हैं ?

उ०—स्वयं ही पक्ष हो स्वयं ही हेतु अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये उस प्रतिज्ञा को प्रमाण बताना। उदाहरण-किसी ने पूछा कि कुरआन के ईश्वरीय वचन होने में क्या प्रमाण है ? उत्तर दिया कुरआन में लिया है।

(प्र०) अन्योन्याश्रम किसे कहते हैं ?

(उ०) जहां दो वस्तुओं की सिद्धि एक दूसरे के बिना सिद्धि न हो सर्व-जैसे किसी ने कहा खुदा की सत्ता में क्या प्रमाण है, उत्तर दिया कुरआन का लेख। अब प्रश्न हुआ कि कुरआन के सच्चा होने का क्या प्रमाण है ? उत्तर-कलाम इलाही होना। इस प्रकार बातचीत ठीक नहीं हो सकती एक विश्वस्त साक्षी अपनी साक्ष्य से दूसरे को विश्वास सिद्ध कर सकता है और दो अविश्वस्त सिद्ध करने से श्रद्धेय नहीं हो सकते।

(प्र०) किस प्रकार विवेचना हो सकती है ?

उ०—विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥४१॥

अर्थ—अपने पक्ष के सिद्ध करने के लिये प्रमाणादि साधनों को काम में लाना और दूसरे के पक्ष को दूषित करके खण्डन करना, यह शैली विवेचना की है और जिन हेतुओं से अपने पक्ष की सिद्ध का

प्रमाण और दूसरे के पक्ष का खण्डन करना है वह निर्णय कहलाता है।

इति प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम्

प्र०—वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रमाण तर्क साधनोपालम्भः सिद्धान्तोविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ ४२ ॥

अर्थ—एक पदार्थ के विरोधी धर्मों को लेकर प्रमाण, तर्क, साधन और अशुद्धियाँ दिखलाने से तत्व के विरुद्ध न होकर पक्षादि (प्रतिज्ञादि वा) अनुमान के पांचों अवयवों को लिये हुए जो प्रश्नोत्तर करना है उसे वाद कहते हैं। जो पुरुष प्रमाण देने के बिना ही बात चीत करता है वह बाद करना नहीं जानता। जैसे किसी ने कहा आत्मा है, प्रतिपक्षी कहता है कि आत्मा नहीं है। अब इस पर दोनों ओर से प्रमाण और युक्ति द्वारा प्रश्नोत्तर करना 'वाद' है परन्तु जहाँ भिन्न वस्तुओं में दो विरुद्ध धर्म वर्णन किये जांय वह 'वाद' नहीं कहाता। जैसे किसी ने कहा आत्मा नित्य है दूसरा कहता है शब्द अनित्य है, यस्पात् नित्यत्व और अनित्यत्व दो भिन्न वस्तुओं में विद्यमान हैं अतः यहाँ पर वाद नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते। जहाँ दो दृष्टि पड़े-उनमें से एक सम्भव होगा दूसरा असम्भव। असम्भव को सम्भव से पृथक् करने के लिये वाद किया जाता है परन्तु भिन्न २ दो वस्तुओं में दो विरुद्ध धर्म रह सकते हैं। अतः वहां पर असम्भवता की असम्भवता नहीं और जहाँ सम्भवता की सम्भवता नहीं वहाँ वाद की भी आवश्यकता नहीं।

(प्र०) सिद्धान्त के विरुद्ध न हो यह क्यों कहा ?

(उ०) अपने सिद्धान्त की अपेक्षा न कर उसके विरुद्ध जल्प वितण्डा हो जाता है वह वाद नहीं कहला सकता।

(प्र०) जल्प किसे कहते हैं ?

उ०—यथोक्तोपपन्न श्छल जाति निग्रहस्थान साधनोपालम्भो जल्पः ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रमाण तर्कादि साधनों से युक्त छल, जाति और निग्रह-स्थानों के आक्षेप से वाद करने का नाम जल्प है। क्योंकि वाद में हार जीत (जय, पराजय) नहीं होती। उसमें केवल सत्यासत्य का निर्णय करना उद्देश्य होता है। परन्तु जय पराजय उद्देश्य होता है तो वहां कहीं छल से काम लिया जाता है कहीं निग्रहस्थानों पर विवाद किया जाता है।

(प्र०) जल्प और वाद में क्या भेद है ?

(उ०) प्रथम तो इन दोनों प्रकार के विवादों में उद्देश्य ही पृथक् २ होते हैं। अर्थात् वाद का उद्देश्य वस्तु के तत्व का अनुसन्धान करना होता है और जल्प से जय प्राप्ति अभिप्रेत होती है। द्वितीय वाद में छल आदि से काम नहीं लिया जाता और जल्प में यह भी काम आते हैं क्योंकि छलादि से बातचीत करने वाला वस्तु के तत्वज्ञान की इच्छा पूरी नहीं कर सकता। परन्तु जय का आकांक्षी छल से काम ले सकता है। इसलिए तत्वान्वीक्षण के प्रयोजन से वार्त्तालाप का नाम वाद और जय-पराजय की आकांक्षा से जो वार्त्ता की जाती है वह जल्प कहलाती है।

(प्र०) वितण्डा किसे कहते हैं ?

उत्तर—स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ४४ ॥

अर्थ—विवाद इस प्रकार का हो कि कोई पक्षी अपना कोई सिद्धान्त न रक्खे परन्तु अन्य के पक्ष का खण्डन करना ही अपना काम

समझे तो उसे वितण्डा कहते हैं और इस प्रकार की वार्ता से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता ?

(प्र०) क्या वितण्डा करने से पदार्थ तत्व का याथात्म्य बोध नहीं हो सकता ?

(उ०)--न तो इस प्रकार विवाद करने वालों का यह उद्देश्य होता है कि हमें तत्व की वास्तविकता दशा का ज्ञान हो और न ही इस उपाय से इच्छा पूर्ण हो सकती है क्योंकि तत्वनुसन्धान उभय पक्ष स्थापना द्वारा हो सकता है। जिस प्रकार तुला के दोनों पलड़ों से तो हर वस्तु की तोल जानी जा सकती है; किंतु एक पलड़े से कभी तोल मालूम नहीं हो सकती। वितण्डा करने वाले किसी वस्तु के यथार्थरूप को सिद्ध करने के वास्ते नहीं समझते, प्रत्युत प्रतिपक्षी के पक्ष की कुट्टी करना ही उनका उद्देश्य होता है।

(प्र०) हेत्वाभासा किसे कहते हैं।

उ०—सव्यविचार विरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम कालातीता हेत्वाभासाः ॥४५॥

अर्थ—पाँच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं, (जो वस्तुत हेतु तो नहीं परंतु हेत्वाकार प्रतीत होते हों। वे हेत्वाभासा कहलाते हैं) प्रथम सव्यभिचार, द्वितीय-विरुद्ध, तृतीय-प्रकरणसम, चतुर्थ साध्य सम, पञ्चम् कालातीत।

(प्र०) सव्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर—अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सव्यभिचार उसे कहते हैं जो एक स्थान पर स्थिर न रहे। प्रतिज्ञा की सिद्ध के लिए ऐसा हेतु देना जो प्रतिज्ञा को छोड़ कर और स्थान पर भी चला जाय सव्यभिचार कहलाता है। जैसे किसी ने कहा-शब्द नित्य है-जब प्रमाण पूछा तो बोला कि स्पर्शाभाववान् होने से दृष्टांत में कहा कि क्योंकि अनित्य (घट) घड़े में स्पयर्शत्व देखते

अब नित्यत्व सिद्धि के लिए जो स्पर्शाभाववत्व हेतु है यह व्यभिचारी है क्योंकि विरुद्ध चीजों में भी पाया जाता है जैसे कि दुःख-सुख स्पर्शाभाव वाले होने पर भी अनित्य हैं और परमाणु स्पर्शवान् होने पर भी नित्य है। अतएव ऐसे हेतु को सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं यस्मात् आत्मादि नित्य होने पर भी स्पर्शवाले नहीं और सुख-दुःखादि अनित्य होने पर भी स्पर्श वाले नहीं अतः स्पर्शाभाववत्व हेतु अनित्यत्व का साधक कभी नहीं हो सकता। एवं स्पर्शवत्व हेतु नित्यत्व का भी साधक नहीं हो सकता। जो हेतु पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही में पाया जाय वह हेतु ही नहीं परंतु हेतु का आभास (प्रतिबिम्ब) है।

(प्र०) विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उ०--सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥४७॥

अर्थ---जो हेतु अपने साध्य के प्रमाण में उपस्थित होकर उसी का विरोधी है वह विरुद्ध हेतु कहलाता है। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो उसके विरुद्ध हेतु देना विरुद्ध कहलाता है, जैसे किसी ने कहा पर्वत में आग है, पूछा क्या प्रमाण है तो उत्तर दिया कि स्रोत वाला होने से-चूंकि पर्वत के स्रोत से पानी आ रहा है इसलिये पहाड़ आग है-चूंकि यह युक्ति अग्नि की सत्ता को सिद्ध करने की अपेक्षा उसके अभाव को सिद्ध करती है, अतः इसको विरुद्ध हेतु कहते हैं।

उ०--यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥४८॥

अर्थ---जिस कारण से वस्तु की जिज्ञासा की आवश्यकता हो यदि उसी के सिद्ध करने में हेतु दिया जाय तो 'प्रकरणसम' अर्थात् जिज्ञास्य के साधन में स्वीकृत हेतु और उसके अनुरूपहेतु देना अर्थात् जिस वस्तु के सत्य व झूँठ पर पूरा विश्वास न हो और विवाद का विषय भी वही वस्तु हो उसी को हेतु के स्थान में देना प्रकरणसम कहलाता है।

(प्र०) प्रकरण किसे कहते हैं ?

(उ०) ऐसे विषय को, जिसका अनुसन्धान करना उद्देश्य हो और जिसके गुणों में परस्पर विरुद्धमति होने के कारण एक प्रकार निश्चित ज्ञान न हो, प्रत्युत सन्देह हो और वह परीक्षा के प्रयोजन से उपस्थित हो, प्रकरण कहते हैं।

(प्र०) चिन्ता किसे कहते हैं?

(उ०) सन्दिग्ध विषय को सन्देह शून्य बनाने की इच्छा से जो प्रश्नोत्तर किये जाते हैं चाहे वे अपने ही मन में हों या दूसरों के साथ; वह चिन्ता या विचार कहते हैं। अब प्रकरणसम का दृष्टांत देते हैं— जैसे किसी ने कहा शब्द अनित्य है और उसके अनित्य होने की युक्ति उत्पत्ति वाला होना और सादि तथा सान्त द्रव्य के गुणों का न होना है। अर्थात् जितनी वस्तुएँ जन्य हैं सब नश्वर हैं क्योंकि घट (घड़ा) आदि जन्य पदार्थ सब अनित्य हैं। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और इसके साथ ही यह विचार उत्पन्न हो कि जिस प्रकार आत्मादि आकृति शून्य पदार्थ नित्य हैं, शब्द भी आकृति रहित होने से नित्य हो सकता है। अतः शब्द का नित्य या अनित्य न होना विवाद गोचर है और नित्यत्व की विशेषता को न मानना युक्ति नहीं किन्तु मिथ्या हेतु है इसलिये जो हेतु दोनों ओर घट जावे वह प्रकरण-सम कहलाता है।

(प्र०) साध्यसम हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उ० —"साध्यविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः" ॥४८॥

अर्थ—वह हेतु जो स्वयं हेत्वन्तर की अपेक्षा रखता हो और उभयपक्षासम्मत हो किसी का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि सन्देह के निरास करने के लिये विश्वास होना आवश्यक है और ऐसे हेतुओं से जो स्वयं प्रमाणान्तर चाहते हों सन्देह के ह्रास के स्थान पर उसकी वृद्धि होती है। जैसे किसी ने कहा छाया द्रव्य है, हेतु कहा कि गति मान होने से अब छाया गतिमती वस्तु है या नहीं यह स्वयं प्रमाणांतर

की अपेक्षा रखती है जबतक यह सिद्ध न होले कि छाया चलती है या पुरुष—तबतक इस हेतु से छाया का द्रव्य होना सिद्ध नहीं होता। प्रथम तो छाया के द्रव्यत्व में संशय था। अब छाया के गतिमत्वागतिमत्व विषयक विवादान्तर आरम्भ हो गया और यह बात प्रसिद्ध है कि जितना प्रकाश और वस्तु के मध्य अवरोध होता है उतनी ही छाया होती है—अतः छाया का चलना भी भ्रम है और जो हेतु भ्रामक हो वही आभास रूप है।

(प्र०) कालातीत हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उ०—कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥५०॥ --९

अर्थ—जिस हेतु में काल का अन्तर हो जावे या काल का अभाव सिद्ध हो तो वह युक्ति 'कालातीत' कहलाती है—जैसे किसी ने कहा कि शब्द नित्य है—और उसमें युक्ति यह दी कि जिस प्रकार नेत्र और प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने से घट का प्रत्यक्ष होता है और प्रकाश के अभाव में घड़े का ज्ञान नहीं होता परन्तु प्रकाशाभाव काल में घड़ा अविद्यमान नहीं होता इसी प्रकार शब्द भी नित्य है। जब वाणी से बोलते हैं तब उसका प्रादुर्भाव होता है तदनन्तर नहीं। इस दलील से शब्द को नित्य सिद्ध किया; परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं क्योंकि रूप का ज्ञान प्रकाश के साथ ही होता है परन्तु शब्द निकलने के पश्चात् कालान्तर में दूर के मनुष्यों को शब्द सुनाई देता है। इसलिए यह हेतु कालातीत हेत्वाभास है क्योंकि जैसा शब्द दुन्दुभी और काष्ठ के संयोग से उत्पन्न होता है वैसा शब्द वियोग से उत्पन्न नहीं होता अतः शब्द संयोग काल में नहीं उत्पन्न होता परन्तु उस काल को अतीत करता है कारण यह है कि कारण होने से कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उदाहरण में सादृश्य न होने से यह हेतु हेत्वाभास कहलाया। बहुत से लोग यह आक्षेप करते हैं कि अनुमान के अवयवों को; उलटे प्रकार से, आगे-पीछे वर्णन करने का नाम कालातीत है—परन्तु यह विचार

ठीक नहीं क्योंकि जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है वह दूर होने पर भी बना रहता है। चाहे मध्य में कोई अवरोध आजावे परन्तु सम्बंध दूर नहीं हो सकता और जिनका वस्तुतः सम्बंध नहीं वह क्रमशः और निकट होने पर भी युक्त नहीं हो सकता। यदि दृष्टांत और हेतु के मध्य में कोई अवयवान्तर आजावें तो हेतु का हेतुत्व नष्ट नहीं हो सकता। अतः अवयवों को आगे-पीछे रखने से कालातीत हेत्वाभास नहीं हो सकता।

(प्र०) छल करना या धोका देना किसे कहते हैं ?

उ०—वचनविघातोऽर्थोपपत्त्या छलम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—विवाद करने वाले विपक्षी के शब्दों के उलटे अर्थ करके उसके अभिप्राय से विरुद्धार्थ निकालना छल कहलाता है। उसका अगले सूत्रों के अर्थों में वर्णन किया जायगा और बहुत से उदाहरण भी दिये जायेंगे।

(प्र०) छल कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर—तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचार-छलञ्चेति ॥ ५२ ॥

अर्थ—तीन प्रकार का होता है, वाक्छल (शब्दों का धोका) सामान्य छल और उपचार छल।

(प्र०) 'वाक्छल' किसे कहते हैं ?

उत्तर—'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जहां एक शब्द के दो अर्थ हों, वहां वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थों को लेकर उसका खण्डन करना वाक्छल कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि यह लड़का नव कम्बल वाला है नव शब्द के

दो अर्थ हैं एक तो नूतन और दूसरे नौ (संख्या)। अब कहने वाले का अभिप्राय तो यह था कि इस लड़के का कम्बल नूतन है। तो बिपक्षी ने खण्डन के लिए कहा कि इसके पास तो एक कम्बल है नौ नहीं हैं इस-लिए तुम्हारा कहना असत्य है—यहां पर नव शब्द के दो अर्थ होने के कारण वक्ता के विरुद्ध अभिप्राय का तिरोधान करके धोका दिया गया और विरोधी का धोका देना स्पष्ट अनुचित है। यही वाक्छल कहलाता है। इस प्रकार की और बहुत सी मिसालें हैं जो अधिकतर विवादों में सुनने में आई हैं। बहुत से वादी ठीक उदाहरण को अपने मत के प्रतिकूल देखकर मिथ्या सिद्ध करने के लिए इसी प्रकार के वाक्छल का प्रयोग किया करते हैं जिससे उनकी निर्बलता का ज्ञान विचक्षण लोगों पर तो हो जाता है परन्तु साधारण लोग उनकी धूर्तता के धोके में आ जाते हैं क्योंकि जब लड़के के पास एक ही कम्बल है तो उसका 'नव' शब्द से नूतन को छोड़कर और क्या अभिप्राय हो सकता है। इस बात को समझ कर भी 'नव' के नौ (संख्या) अर्थ को लेकर आक्षेप करना नितांत छल नहीं तो और क्या है। इसी प्रकार के धोके को वाक्छल कहते हैं।

(प्र०) सामान्य छल किसे कहते हैं?

उत्तर—सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम् ॥ ५४ ॥ 52

अर्थ—जो अर्थ शब्द के सामान्यता संभव हों उनके संपर्ग से असम्भव अर्थों की कल्पना करके विवाद करना सामान्य छल कहाता है। अर्थात् एक शब्द के साधारण अर्थों को लेकर वक्ता के अभिप्राय के प्रति-कूल भिन्न स्थानों पर उसका अन्वेषण करना छल है—अब वक्ता के मनो-भाव के विरुद्ध युक्ति उत्पन्न की गई क्योंकि वह अधीतविद्य ब्राह्मण को विद्वान् बतलाता था अब यह उसके प्रतिकूल हर एक ब्राह्मण वंशज में

विद्वता का गुण ढूँढते हैं जिससे वक्ता के तात्पर्य का सर्वथा मिथ्या बनाना अभिप्रेत है क्योंकि ब्राह्मण का सविद्य होना तो सम्भव है परन्तु हर एक ब्राह्मण का विद्वान् होना असम्भव है। वक्ता ने तो युक्त बात कही थी जिसका होना असम्भव था। अब छल करने वाले ने सर्वथा उसके अभिप्राय के विरुद्ध परिणाम निकाला वह जिस गुण को एक ब्राह्मण में बतला रहा था। यह छल करने के लिए उस गुण को हर ब्राह्मण में ढूँढने लगा और इसके धोके से उसके वचन को असत्य सिद्ध करना चाहा। इस प्रकार के छल का नाम 'सामान्य छल' है।

(प्र०) उपचार छल किसे कहते हैं ?

उत्तर—धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्

१२ ॥ ५५ ॥

अर्थ—जहाँ किसी ने एक ऐसे शब्द को कहा कि जिसके दो अर्थ हों। एक वह जो विशेष (प्रधान) अर्थ हो और दूसरे सामान्यार्थ हों—विशेष अर्थ को धर्म कहते हैं। वक्ता ने सामान्य (साधारण) अर्थों के प्रकट करने के लिए एक शब्द का प्रयोग किया—वहाँ—उसकी विशेष धर्म (खास अर्थों) को वर्णन करके उसकी सत्ता का अभाव सिद्ध करना उपचार छल कहलाता है। जैसे एक पुरुष हमारे साथ रेल पर सवार है और मेरठ के समीप पहुँच कर यह कहता है कि मेरठ आगया। अब उसका अभिप्राय मेरठ पहुँच जाने से है हम उसकी बात को मिथ्या सिद्ध करने के वास्ते यह धोका देते हैं कि शहर में 'आना जाना' रूप (क्रियारूप) धर्म सम्भव नहीं क्योंकि वह जड़ है इसलिए तुम्हारा यह कहना कि मेरठ आगया सर्वथा झूठ है। प्रत्युत रेल में बैठ कर हम आगये हैं वस्तुतः वक्ता का भी यही तात्पर्य था। क्योंकि संसार में विशेष धर्म को ही माना जाता है परन्तु सम्बन्ध से भी किसी धर्म को मान लेना उपचार है। अथवा किसी ने कहा मचान पुकारते हैं। उसके उत्तर में कहा गया कि मचान तो जड़ हैं। उन में पुकारने

की शक्ति नहीं। किन्तु मचान पर बैठे हुए पुरुष पुकार रहे हैं। इसलिए तुम्हारा कहना ठीक नहीं। वास्तविक प्रयोजन धोके का यही है कि वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ निकाल कर उसके पक्ष का निरास करना। यद्यपि छल करने वाला इस प्रकार के साधनों द्वारा जो ऊपर के तीन सूत्रों में वर्णन किये गये हैं अपने विरोधी के पक्ष का खण्डन करता है। यहां पर आक्षेप्ता आक्षेप करता है:—

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—वाक्छल ही उपचार छल है क्योंकि इन दोनों में कोई विशेष गुण भेदोत्पादक नहीं है। वाक्छल में भी वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध शब्दों से परिणाम निकाला जाता है। ऐसा ही उपचार छल में वक्ता के अभिप्राय का विपरीत ही निष्कर्ष प्रतिपादन कर धोका देते हैं। इसका उत्तर महात्मा गोतम जी देते हैं:—

न तदर्थान्तरभावात् ॥ ५७ ॥

अर्थ—वाक्छल अर्थात् शाब्दिक छल और उपचार छल अर्थात् सम्बन्ध से धोका देना एक नहीं है क्योंकि उनमें बहुत अन्तर है। वाक्-छल में नानार्थक शब्द से वक्ता के भाव के विपरीत अर्थों को लेकर उसके पक्ष का खण्डन किया जाता है और उपचार छल में दूसरे अर्थ नहीं किये जाते प्रत्युत वस्तु की सत्ता में जो विशेष सम्बन्ध रखने वाले गुण हैं उनके द्वारा वस्तु की सत्ता का अभाव सिद्ध करके वक्ता के पक्ष का खण्डन किया जाता है। अब गोतम जी सिद्धांत कहते हैं।

अविशेषे वा किञ्चित् साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ ५८ ॥

अर्थ—यद्यपि छल की वार्ता में एकमत्य और किसी में वैपरीत्य है। अब एकमत्य को लेकर तीनों एक हो जायेंगे तो विरोध को अवकाश न रहेगा। क्योंकि दो विरुद्ध गुण वाली वस्तुओं को एक नहीं कह सकते। यदि छल को दो प्रकार का माना जाय अर्थात् वाक्छल और सामान्य छल तो इस दशा में भी इनमें कुछ मिलाप है। इसलिये छल

तीन ही प्रकार का मानना युक्त है। एक या दो मानना ठीक नहीं है। क्योंकि तीनों में कुछ न कुछ भेद पाया जाता है। और जहाँ परस्पर भेद हो उसे ठीक नहीं कह सकते क्योंकि और विभाग का होना गुणों के सादृश्य और असादृश्य पर अवलम्बित रहता है। अतएव जहाँ गुण वैचित्र्य पाया जायगा वहां वस्तु के कन्यत्व में भी कोई संदेह नहीं। चूंकि तीनों प्रकार के छलों में अन्तर प्रतीत होता है अतः तीनों एक नहीं हैं। यही सिद्धांत है।

(प्र०) जाति किसे कहते हैं ?

उत्तर—साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥५९॥

अर्थ—हेतु देने में जो प्रसङ्ग पैदा हो जाता है वह जाति कहाता है। प्रसङ्गानु-रूप गुण वाला या विपरीत गुणवाला बतलाने में जाति से ही काम लिया जाता है। अब साधर्म्य से और वैधर्म्य से जो दोष देना है वह जाति है। क्योंकि साध्य (प्रतिज्ञा) के सिद्ध करने के लिए जहां प्रतिज्ञा के अनुकूल हेतु से काम लिया जाता है। यह साधर्म्य वाला हेतु कहलाता है। और जहां प्रतिकूल हेतु से काम लिया जाता है वह वैधर्म्य हेतु कहलाता है। जाति को लेकर साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान होता है। इसका सविस्तार वर्णन तो परीक्षा के प्रकरण में आयेगा।

(प्र०) निग्रह स्थान किसे कहते हैं ?

उ०—विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ ६० ॥

अर्थ—जहां कहने के अवसर पर अपने सिद्धांत के अनुकूल युक्ति दी जाय उसे विप्रतिपत्ति कहते हैं या व्यर्थ और व्यस्त हेतुओं से काम लिया जाय जिसका सम्बन्ध पदार्थ से कुछ भी न पाया जाय या हेतु कहने के समय हेतु ही न दिया जाय और बुद्धि उत्तर देने की शक्ति न रखती हो उसे अप्रतिपत्ति कहते हैं। जब विवाद में यह दो अवस्थायें हो जाँय कि युक्त हेतु के स्थान पर अयुक्त हेतु कह दिया जाय या युक्ति न दे सके तो वह निग्रहीत हो जाता है। अर्थात् उसका पक्ष

रह जाता है और वह वर्जित समझा जाता है। निग्रह स्थानों के लक्षण और प्रकारों का वर्णन अगले अध्यायों में परीक्षा के साथ २ आयेगा। अतः उसकी इस स्थान पर अधिक निवृत्ति नहीं की जाती।

(प्र०) निग्रह स्थान एक या बहुत हैं।

उत्तर—तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥६१॥

अर्थ—उनके विरोध के कारण से अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्य के बहुत प्रकार के होने से और युक्तियों के विरोध से निग्रह स्थान और जाति बहुत प्रकार की हैं। भाव यह है कि हर एक वस्तु में बहुत से गुण ऐसे हैं जो दूसरों से मिलते हैं। और बहुत से गुणों में प्रतिकूल्य होता है। इस विभाग के कारण जाति बहुत प्रकार की हैं। जैसे मनुष्य और पशुओं में प्राणित्व रूप गुण समान है; परन्तु पशु बुद्धिशून्य प्राणी है और मनुष्य बुद्धियुक्त प्राणी है। इसलिये पहले प्राणी होने के कारण दोनों प्राणी जाति में परिगणित हुये। फिर बुद्धि के कारण मनुष्य बुद्धिमान् और पशु निर्बुद्धि होगये। इसी प्रकार पशुओं के अनेक प्रकार हो जाते हैं। अब निग्रह स्थानों का भी यही हाल है। इनका अधिक विस्तार पांचवें अध्याय में आयेगा।

यहां तक महात्मा गौतमजी ने सोलह पदार्थों का उद्देश्य और उनके लक्षण साधारण रूप से बतलाये। अर्थात् पहले यह बतलाया कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मुक्ति होती है। फिर बतलाया प्रमाण चार प्रकार का है और प्रमेय बारह प्रकार का है। अर्थात् इस अध्याय में जानने योग्य हर एक पदार्थ का वर्णन तो आगया। अब उनकी परीक्षा की जायगी। जिससे हर एक मनुष्य को पूरा ज्ञान हो जावे कि जो लक्षण महात्मा गौतमजी ने पदार्थों का किया है वह ठीक है। क्योंकि गौतमजी का सिद्धांत यह है बिना परीक्षा किये किसी

बात को नहीं मानना चाहिये। अब यदि स्वयं वे अपने शास्त्र में केवल लक्षण ही वर्णन कर देते और उसकी परीक्षा न करते तो उन पर सिद्धांत के विपरीत चलने का दोषारोपण होता इसलिये इन्हें अच्छी प्रकार से हर एक लक्षण और उद्देश्य की समीक्षा करना आवश्यक समझा जिसका मूल्य अगले अध्यायों से प्रतीत होगा।

न्यायदर्शन के उर्दू तर्जुमे के हिन्दी अनुवाद
का
पहला अध्याय समाप्त

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

प्रथमह्निकम्

(प्र०) परीक्षा किस प्रकार की जाती है ? और महात्मा गौतम जी ने प्रमाण तथा प्रमेय की परीक्षा को आगे के लिये छोड़कर प्रथम 'संशय' की परीक्षा को क्यों आवश्यक समझा ? क्योंकि, जैसे उद्देश्य और लक्षण क्रमशः कहे गये थे उसी क्रम से परीक्षा होनी चाहिये थी।

उ०—'संशय' के उत्पन्न हुए बिना परीक्षा हो नहीं सकती अतः सबसे पूर्व संशय की परीक्षा करना आवश्यक है।

(प्र०) परीक्षा करने के लिये वस्तु की सत्ता में सन्देह होता है या उसके लक्षणों में ?

उ०—उद्देश्य और लक्षण दोनों की परीक्षा की गई है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तु की सत्ता में भी संदेह हो सकता है और उसके लक्षण के विषय में भी "युक्त है या अयुक्त है ?" यह सन्देह हो सकता है। परीक्षा से दोनों प्रकार के संदेहों को दूर करना अभीष्ट है।

(प्र०) पर वस्तु की सत्ता का प्रमाणिकता उस (वस्तु) के लक्षण की सत्ता के प्रमाणिकत्व पर निर्भर है, क्योंकि 'गुणी, गुणों के समुदाय का नाम है और लक्षण में स्वाभाविक गुणों का ही वर्णन होता है। यदि गुणों की सत्ता (सिद्धि) न हो तो गुणी की सत्ता (सिद्धि) ही नहीं हो सकती। अतः केवल लक्षण की परीक्षा से उसकी परीक्षा हो सकती है। अब 'संशय' की परीक्षा के लिए पूर्णपक्ष का वर्णन करते हैं।

सूत्र—समानानेक धर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

अर्थ—दो प्रकार के विश्वासों में वर्तमान साधारण धर्मों के ठीक ज्ञान होने से सन्देह नहीं हो सकता—अथवा साधारण रूप से किसी पदार्थ के गुणों में समता (एकता) जानने से और यह विचार होने से कि इन दोनों पदार्थों में बहुत से गुण मिलते हैं और उनके गुणों को प्रत्यक्ष देखने से गुणी के ज्ञान में सन्देह नहीं होता। समान उसे कहते हैं जिसमें बहुत से धर्म मिलते हैं और किसी एक गुण में विरोध हो—समान शब्द के उच्चारण से भिन्नता प्रकट हो जाती है। जिससे सन्देह का होना सम्भव नहीं। जब यह प्रतीत हो जायगा कि यह दोनों पदार्थ भिन्न २ हैं केवल कतिपय अंशों में गुणों की समता है तो दोनों पदार्थों के पृथक् जान लेने से एक में दूसरे का सन्देह नहीं होता। यथा रूप स्पर्श दो भिन्न २ पदार्थ हैं। जब दोनों का पृथक् पृथक् ज्ञान हो जायगा तो एक में दूसरे का सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि सन्देह उस दशा में होता है जब कि एक पदार्थ में दूसरे के होने का भी सन्देह हो। जब दो पदार्थों का ज्ञान एक में न हो उस समय संशय उत्पन्न नहीं होता। इसके खण्डन के लिए एक और हेतु देते हैं यह भी पूर्व पक्ष का ही सूत्र है।

सूत्र—विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

अर्थ—केवल वस्तु की ठीक २ व्यवस्था (परिणाम) न निकलने में संशय नहीं होता।

(प्रश्न) प्रश्न में तो इसका वर्णन नहीं कि इन कारणों से ही संशय नहीं होता। तुमने क्यों कर मान लिया कि इन कारणों से संशय नहीं होता ?

उ०—अतः इस सूत्र में पिछले सूत्र का ही निरास है अतः पूर्व सूत्र से इस में अनुवृत्ति आती है। अर्थात् पिछले सूत्र से इतना विषय इस सूत्र में भी लेना चाहिये अतः सूत्र का तात्पर्य यह है कि विरुद्ध सम्मति—जैसे कोई मानता है कि आत्मा है और दूसरा यह मानता है

कि आत्मा नहीं है–इस विचार के सुनने से किसी प्रकार का संशय सम्भव नहीं क्योंकि जिसके अपने दिल में दो विरुद्ध विचार हों उसे संशय हो सकता है। दूसरे पुरुषों की सम्मति के विरोध से किसी प्रकार संशय नहीं हो सकता। द्वितीय किसी वस्तु के ज्ञात अथवा अज्ञात होने के कारण से भी संशय नहीं उपजता। अर्थात् ऐसे विचार होने को कि इसका ज्ञात होना प्रमाणिक नहीं और इसके अज्ञात होने का भी ठीक ज्ञात नहीं होता, इससे भी संशय नहीं होता। इन तीनों बातों को संशय का कारण न मानने में अगले सूत्र में भिन्न २ कारण पर अनुसंधान करते हैं। पहले कारण अर्थात् 'सम्मति विरोध' विषय में यह सूत्र है।

सूत्र–विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्मति विरोध से उस रचयिता (मुसन्निफ) को जिसको उसका ज्ञान है संशय नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र मे मति वैपरीत्यादि को सर्वांश से संशय का कारण नहीं माना। अब उसको सविस्तार वर्णन करते हैं। यथा–एक विवाद के निर्णायक को जिसको दोनों वादियों के मति विरोध का ज्ञान हो चुका है कभी सन्देह नहीं होता। क्योंकि वह वास्तविक सिद्धांत को जानता है। यदि कोई पुरुष यह कहे कि जिस पुरुष को उस मन्तव्य का ठीक ज्ञान नहीं उसको तो अवश्य ही सम्मतिवैपरीत्य से संशय उत्पन्न हो जायगा। यह विचार भी ठीक नहीं है। उसका पूर्व से ही सन्देह है। मतिविरोध के श्रवण से संशय उत्पन्न नहीं हुआ इसलिये विप्रतिपत्ति दोनों प्रकार के मनुष्य के विचार में संशय उत्पादन नहीं कर सकती। क्यों कि जो नैयायिक वास्तविक तात्पर्य को जानता है और वादियों ने अपने अपने हेतुओं को सुना कर उसको न्याय करने के लिए नियत किया है उसको तो ठीक ज्ञान है। मतिविपर्य्याय का वृतांत उसे पूर्ण ज्ञात है अतः उसे संशय उत्पन्न होना सम्भव नहीं। और जो पुरुषत्व से अनभिज्ञ है

उसे पहले ही से संशय है उसको भी विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं हो सकता। अतः विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य दो ही प्रकार के हो सकते हैं एक वह जो सत्य को जानते हों और दूसरे वे जिनको सत्य का ज्ञान न हो।

(प्र०) जब तुम यह मानते हो कि अनभिज्ञ को तो पहले सन्देह है ही तो तुम्हारे संदेह की सत्ता से निषेध करना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि जिसकी सत्ता का तुमने स्वयं अंगीकार कर लिया उससे निषेध कैसा ?

उ०—मैंने संशय के भाव अथवा अभाव की प्रतिज्ञा नहीं की किन्तु विप्रतिपत्ति के संशय का कारण होने से निषेध किया है। हमारे इस सूत्र की बहस (विवाद) का भाव यह है कि विप्रतिपत्ति किसी से मन में संशय उत्पन्न नहीं कर सकती।

(प्र०) तुम्हारे शब्दों से संशय की सत्ता का पता मिलता है उसका कारण विप्रतिपत्ति है या और कोई ?

उ०—जब कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता तो संशय के कारणों से उसकी उत्पत्ति न होने पर संशय की सत्ता स्वयमेव नष्ट हो जायगी अतः दूसरे कारण की भी परीक्षा करके खण्डन करते हैं।

सूत्र—अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—मन में किसी वस्तु के तत्व विषयक सांदेहिक विचारों को स्थित होने या न होने से भी संशय उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् किसी वस्तु की सत्ता का सांदेहिक ज्ञान व शून्य का सांदेहिकज्ञान संशय के उत्पन्न होने का कारण नहीं। संशय के लक्षण में तो दो प्रकार की व्यवस्था अर्थात् संशयात्मक ज्ञान को संशय के उत्पन्न होने का कारण बतलाया था। इस सूत्र में उसका निषेध अर्थात् खण्डन-विपक्षी की तरफ से किया गया विपक्षी उसके लिये यह युक्ति उपस्थित करता है कि ऐसा

माना जावे कि यह सांदेहिक ज्ञान आत्मा के स्वरूप में स्थित है तो वह सांदेहिक ज्ञान नहीं कहला सकता क्योंकि अव्यवस्था अर्थात् सांदेहिक ज्ञान सर्वदा बदलता रहता है। यदि ऐसा मानें कि सांदेहिक ज्ञान आत्मा के स्वरूप में स्थित नहीं, तो उसका होना ही प्रमाणित नहीं होता और जिस सांदेहिक ज्ञान को सन्देह का कारण माना था, उसके न होने से सन्देह का शून्य होना प्रमाणित हो गया। वस्तुतः बात तो यह है कि सांदेहिक ज्ञान से होना असम्भव है। यदि सांदेहिक ज्ञान को स्वसत्ता में भी संशय-जनक माना जावे तो प्रथम उसको शून्य मानना पडेगा, जिससे कि वह किसी का कारण होना असम्भव नहीं द्वितीय अन्तरतम प्राप्त होगा, कि सन्देह का कारण सान्देहिक ज्ञान और उसका कारण संशय इसी तरह अनन्त क्रम होगा। अतएव अव्यवस्था सन्देह का कारण नहीं हो सकती। अब तृतीय कारण समान धर्म के प्रसङ्ग में विवाद करते हैं।

सूत्र—तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्म्म सातत्योपपत्तेः ॥५॥

अर्थ—इसी तरह संशय उत्पन्न करने वाले समान धर्म के प्रत्येक समय ज्ञान होने से संशय नष्ट नहीं हो सकेगा। अर्थात् सर्वदा नैमित्तिक बना ही रहेगा क्योंकि जिस कपोल-कल्पना को तुम यह मानते हो कि समान धर्म के ज्ञान से संशय अर्थात् सन्देह पैदा होता है उस समान धर्म को सर्वदा स्थिति रहने के संशय का हमेशा रहना सम्भव प्रतीत होता है। अतः कोई वस्तु समान धर्म से रिक्त नहीं होती और न कभी किसी को ऐसा विचार होता है, कि यह धर्म अर्थात् विशेष्य समान धर्म अथवा प्रत्येक विशेषण से रहित है। किन्तु समान धर्म से सहित ही विशेष्य का ज्ञान प्रत्येक विशेषण के प्रत्येक कारण पर जिनका वर्णन प्रथमाध्याय के सूत्र २३ में आया था युक्तियाँ देकर उनसे संशय की उत्पत्ति का खण्डन करके संशय की सत्ता का निषेध अर्थात् शून्य परिमित किया। अब अगले सूत्र में उन पाक्षिक युक्तियों का उत्तर दिया जायगा।

सूत्र—यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥६॥

अर्थ—संशय की उत्पत्ति का न होना अथवा उसकी सत्ता का खण्डन किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं क्योंकि केवल समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण का ज्ञान होना ही संशय का कारण नहीं। यदि विपक्षी यह कहे कि आपके पास क्या प्रमाण है कि केवल समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण ही संशय कारण नहीं तो उसका उत्तर महात्मा गौतम जी ने यह दिया है कि जिस सूत्र संख्या १३ में समान धर्म के ज्ञान को संशय का कारण माना है उसमें केवल समान धर्म के ज्ञान अर्थात् प्रत्येक विशेषण के ज्ञान को संशय का कारण नहीं बतलाया किन्तु समान धर्म के ज्ञान और विशेष्य धर्म की अपेक्षा का अर्थात् प्रत्येक विशेषण में मालूम होने और नवीन विशेषण के प्रतीत करने की इच्छा होने का नाम संशय है और वह यावत् विशेष्य धर्म अर्थात् नवीन विशेषण का ज्ञान न हो जावे यावत् प्रत्येक विशेषण के ज्ञान होने के पश्चात् भी स्थित रहेगी और इसी का नाम संशय है अर्थात् प्रत्येक विशेषण तो पर्याप्त है और नवीन विशेषण के प्राप्त करने की इच्छा है।

(प्र० समान धर्म अर्थात् प्रत्येक बिशेषण के जानने की इच्छा क्यों नहीं होती, नवीन विशेषण के जानने की इच्छा क्यों होती है ?

उ०—यावत् समान धर्म का ज्ञान तो प्रत्यक्ष होने से प्रथम हो जाता है। तब विशेष्य धर्म के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि जो वस्तु स्वप्रकाश में हो उसकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि इच्छा प्राप्ति के अर्थ उत्पन्न होती है और वह वस्तु प्रथम प्राप्त है। अतएव सामान का ज्ञान होना कहा गया है। पुनः उसके बोध की इच्छा क्यों होगी ?

(प्र०) क्या समान धर्म संशय अर्थात् सन्देह का कारण नहीं ?

उ०—समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण संशय का कारण नहीं है किन्तु प्रत्येक विशेषण का ज्ञान और नूतन विशेषण के जानने की इच्छा संशय का कारण है।

(प्र०) पुनः लक्षण करते समय ऐसा क्यों नहीं कहा?

उ०—विशेष्य की अपेक्षा अर्थात् बोध की आवश्यकता के कथन से यह वृत्तान्त प्राप्त हो जाता है।

(प्र०) समान धर्म के ज्ञान में तो आपने यह युक्ति उपस्थित की, परन्तु विप्रतिपत्ति से संशय का जो निषेध अर्थात् खण्डन किया है, उसका क्या उत्तर है?

उ०—जब दो मनुष्य एक विषय पर विवाद करते हैं तो श्रोता को यह विचार उत्पन्न होता है कि प्रत्येक युक्तियां तो मैं सुन रहा हूँ परन्तु कोई विशेष युक्ति जिससे सत्य-असत्य का प्रमाण प्राप्त होजाये मुझे मालूम करनी चाहिये। बस, यही विशेष युक्ति के ज्ञात करने की आवश्यकता ही संशय होने को प्रमाण है और जो यह कथन किया गया कि 'न्यायाधीश' को दो मनुष्यों की विप्रतिपत्ति से उस वस्तु की तत्व विषयक शङ्का उत्पन्न नहीं होती, इसका कारण यह है कि उसको समान धर्म अर्थात् प्रत्येक विशेषण का ज्ञान और विशेष्य धर्म के जानने की इच्छा नहीं होती। यदि होती तो शंका का उत्पन्न होना अत्यावश्यक था। संशय की उत्पत्ति के तृतीय कारण अव्यवस्था अर्थात् सशंकित ज्ञान का जो खण्डन किया गया उसका उत्तर यह है कि जो विपक्षी ने कथन किया है, कि दो विप्रतिपत्ति वाले मनुष्यों की युक्तियों को श्रोता सुनता है और यह विचार करता है, कि इसके तत्व विषयक नूतन युक्ति को नहीं जानता, जिससे दोनों में से एक के विचार को सत्य और दूसरे के परामर्श को असत्य प्राप्त करूं। अब यह विचार भी संशय है। विप्रतिपत्ति के होने से दूर नहीं हो सकता। अतएव शङ्का की सत्ता प्रत्येक प्रकार से प्रमाणित है। और सर्वपरीक्षकों को परीक्षा से इसका प्रमाण प्राप्त हो सकता है।

(प्र०) संशय किसे कहते हैं ?

(उ०) अल्पज्ञ जीवात्मा को।

(प्र०) संशय का यथार्थ कारण क्या है ?

(उ०) जीवात्मा की अल्पज्ञता ही संशय का यथार्थ कारण है।

(प्र०) यदि संशय के अस्तित्व को न माना जावे तो क्या हानि उत्पत्ति होनी है ?

(उ०) यदि संशय अर्थात् शंका की सत्ता ही संसार में न होती तो मनुष्य शब्द का सार्थक अर्थ यथार्थ न होता क्योंकि मनुष्य का अर्थ परीक्षक का है और जब तक संशय न हो तब तक परीक्षा का होना असम्भव है।

(प्र०) संशय के होने का प्रमाण क्या है ?

उ०—यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्ग ॥७॥

अर्थ—जहाँ २ सन्देह उत्पन्न होता है वहां ही प्रश्नोत्तर के प्रसंग से परीक्षा होती है अर्थात् जब विपक्षी उसका खण्डन करता है तब प्रत्येक सत्ता के मानने वाले को उसे प्रमाणित करना पड़ता है। इससे प्रमाणित होता है कि संसार में प्रश्नोत्तर और परीक्षा को देख कर प्रत्येक मनुष्य को संशय होना प्रतीत होता है। अतएव संशय ही परीक्षा का कारण है और कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता क्योंकि संसार में परीक्षा होती सब मनुष्य देखते हैं, जिससे संशय की सत्ता का प्रमाण मिलता है। यदि संशय न होता तो संसार में परीक्षा की प्रतीति भी दृष्टिगोचर नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की परीक्षा संशय के कारण होती है, अतएव प्रथम ही संशय की परीक्षा की गई। अब आगे प्रमाण आदि की परीक्षा लिखी जावेगी।

(प्र०) परीक्षा से क्या लाभ है ?

(उ०) परीक्षा से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान विश्वास पूरित होजाता है और विश्वास पूरित ज्ञान के होने से उस पर कर्म होता है और कर्म से सुफल प्राप्ति होती है। वर्तमान में जो मनुष्य बहुत सी बातों को मानते

हुए इस पर कर्म नहीं करते, उसका साफ कारण यह है कि उनके मनुष्यों को उन कार्यों के सुखदायक होने का विश्वास पूरित ज्ञान नहीं, क्योंकि मनुष्य सुख चाहता है और दुख से बचने की इच्छा करता है, परन्तु विश्वासपूरित ज्ञान के न होने के कारण से बहुत से दुःख देने वाले कार्यों का न त्याग करते हैं और न सुखदायक कार्यों को करते हैं। अब विपक्षी प्रमाण की परीक्षा करता है और यह सूत्र पूर्वपक्ष अर्थात् पाक्षिक युक्तियों के हैं-

सूत्र—प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

अर्थ-प्रत्यक्षादि का प्रमाण मानना ठीक नहीं, क्योंकि इनकी सत्ता अर्थात् प्रमाण होना तीनों काल में प्रमाण को प्राप्त नहीं होता, कारण है कि प्रत्येक प्रमाण का ज्ञान इन तीन दिशाओं से पृथक नहीं हो सकता। प्रथम यह है कि प्रमाण का ज्ञान प्रमेय ज्ञान से प्रथम हो। द्वितीय यह है कि प्रमेय के बोध करने के पश्चात् प्रमाण का ज्ञान हो। तृतीय दिशा यह है कि प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान एक ही-साथ हो जावे। यहाँ प्रमाण से प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण लेकर उसको शून्य परिमित करने के वास्ते तीनों काल में प्रत्यक्ष परिमित न होना विपक्षी ने युक्ति उपस्थिति की, अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या कारण है कि प्रत्यक्ष प्रमाण तीनों काल में प्रमाण को प्राप्त नहीं होता, उसके वास्ते विपक्षी अगले सूत्रों में युक्ति उपस्थित करता है। क्योंकि विवादी मनुष्य बिना युक्ति किसी विवाद को नहीं मानते यदि कोई पुरुष यह प्रश्न उपस्थित करे कि बिना युक्ति मानने में क्या हानि है क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष युक्ति से प्रत्येक वस्तु की परीक्षा तो कर ही नहीं सकता, कुछ न कुछ बातें माननी ही पड़ती हैं परन्तु ऐसा मानने से प्रथम तो मनुष्य की मननशीलता जिसके कारण से मनुष्य दूसरे पशुओं से विशेष गिना जाता है, और जो कुदरती तौर पर शिशु-अवस्था से ही प्राप्त होती है, बिल्कुल हानि-कारक है। परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा का कोई कार्य हानिकारक नहीं तो

उसका मनुष्य की प्रकृति में मननशीलता रखना किसी प्रकार भी हानि-कारक नहीं हो सकता। यदि येनकेन प्रकारेण यह मान लिया जावे कि प्रकृति ने मननशीलता मनुष्य की प्रकृति में बिना लाभ रक्खी तो पुरुष किसी विषय को सत्यासत्य कह ही नहीं सकता। उस दशा में एक योगी और यज्ञ के कथन में हठ करने पर किसी को शुद्ध मानना पड़ेगा जिससे एक वस्तु की बाबत दो हठ सम्बन्धी सम्मतियों को पक्षी और विपक्षी को युक्तियों से परीक्षा करना आवश्यक समझकर अब प्रमाण के शून्य परिमित करने के लिए युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं।

(प्र०) प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमेय ज्ञान के प्रथम मानने में क्या हानि है ?

उत्तर—पूर्वंहि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थ सन्निकर्षात्प्रत्य क्षोत्पत्तिः ॥९॥

अर्थ—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान प्रमेय ज्ञान से पूर्व लेंगे तो इन्द्रिय और अर्थ अर्थात् वस्तु के विषय से प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा नहीं हुआ क्योंकि प्रमेय ज्ञान से पूर्व माना गया है। और जो इन्द्रियार्थ योग से उत्पन्न न हो, वह प्रत्यक्ष कहला ही नहीं सकता क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण यही है कि वह इन्द्रियार्थ के संयोग से पैदा हो। जब प्रत्यक्ष के लक्षण में उसका आना सम्भव नहीं तो उसे प्रत्यक्ष कहना परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि यह नियम है कि हरएक वस्तु की सत्ता का सिद्ध होना असम्भव है। अब प्रत्यक्ष का लक्षण आपने कथन किया है वह प्रमेय ज्ञान से प्रथम उपस्थित होने वाले ज्ञान में नहीं घट सकता अतएव प्रमेय ज्ञान से पूर्व तो प्रत्यक्ष प्रमाण होना असम्भव है।

(प्र०) यदि यह माना जाये कि प्रमेय का ज्ञान होने के पश्चात् प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है तो इसमें क्या हानि है ?

उ०— पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः १०

अर्थ—यदि यह मान लोगे कि प्रमेय ज्ञान के पश्चात हम प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञान को मानेंगे तो प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान न होगा किन्तु प्रमेय के ज्ञान के लिए प्रमाण की जरूरत ही नही, क्योंकि प्रमाण की आवश्यकता केवल प्रमेय के ज्ञान के लिए है। जब प्रमेय का ज्ञान बिना प्रमाणों के हो गया तो अब प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि जिस वस्तु के ज्ञान के वास्ते प्रमाण की जरूरत थी उस वस्तु का ज्ञान पहले ही हो गया इस वास्ते यह कथन बिलकुल ठीक नही है कि प्रमेय ज्ञान के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न हो जावेगा। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होना नहीं मानते, किन्तु प्रमाण केवल प्रमेय ज्ञान के दृढ़ करने के लिए है,तो यह कहना सरासर असत्य होगा। क्योंकि प्रीति अर्थात् वस्तु की योग्यता को जानने वाले शास्त्र का नाम प्रमाण है। और बिना साधन के किसी मनुष्य को किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। और बिना साधन के ज्ञान की उत्पत्ति मानने से प्रज्ञाचक्षु को रूप का ज्ञान होना चाहिए। यदि कथन करो कि उसको बिना चक्षु के रूप का ज्ञान नहीं हो सकता तो बिना साधन के ज्ञान का होना परिमित हो गया, जब बिना साधन के प्रमाता अर्थात् जीवात्मा को किसी प्रमेय का ज्ञान होना सम्भव नहीं तो ज्ञान प्रमेय ज्ञान के बाद प्रमाण की सत्ता का अनुभव करना बिलकुल असत्य है, अतएव प्रमेय ज्ञान के बाद भी प्रमाण का ज्ञान होना असंभव है।

(प्र०) हम एक काल में प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान होना मानते हैं। इसमें किस पक्ष को उठाओगे?

उत्तर—युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥११॥

अर्थ-यदि ऐसा मानोगे कि एक ही समय में प्रमाण और प्रमेय दोनों का ज्ञान हो जावेगा, तो यह असत्य है। क्योंकि मन का

यह लक्षण है कि उसमें एक काल में दो ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकते अर्थात् ज्ञान नियत कर्म्मवृत्ति अर्थात् क्रमानुसार हुआ करता है। एक ही काल में दो ज्ञान का होना असम्भव है । तो तुम्हारा यह विचार किस तरह सत्य हो सकता है, कि प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान युगवत (साथ-साथ) हो जावेगा। उपरोक्त इन तीनों युक्तियों के द्वारा विपक्षी ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रत्यक्ष प्रमाणों का किसी प्रकार भी सिद्ध होना सम्भव नहीं। अतएव उनकी सत्ता का होना सत्य नहीं। क्योंकि जिस प्रमेय ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता थी, उसके साथ तीनों काल में प्रमाण का विषय परिमिति नहीं हो सकता। जिसका विषय तीनों काल में सिद्ध न हो उसके होने का क्या प्रमाण है। विपक्षी के इस वाद का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं। उपरोक्त चार सूत्र पूर्व पक्ष अर्थात विपक्षी की ओर से हैं और उनका उत्तर महात्मा गौतम जी की ओर से। यहां कुछ प्रश्नोत्तर लिखे जाते हैं, जिससे कि तात्पर्य पूरा निकल आवे।

(प्र०) क्यों मन में एक काल में दो ज्ञान की उत्पत्ति न मान ली जावे ?

(उ०) मन बहुत ही सूक्ष्म अर्थात् अणु है । उसमें एक काल में दो प्रकार के ज्ञान का होना सम्भव नहीं। इसका विशेष विचार मन की परीक्षा के समय पर किया जायगा।

(प्र०) हम एक काल में दो ज्ञान उत्पन्न होते देखते हैं। अर्थात् किसी शब्द के सुनने से उस शब्द का और उसके अर्थों का ठीक २ ज्ञान होता है। जिसके साथ २ होने में कोई संशय नहीं क्योंकि उसमें काल का कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

(उ०) यह वार्ता सत्य नहीं है। क्योंकि काल के सूक्ष्म प्रवाह का प्रत्येक जन बोध नहीं कर सकता, जिसमें एक निमेष को प्रत्येक मनुष्य समय का बहुत लघु भाग विचार करता है । उसमें साठ पल

एक दूसरे के पश्चात् व्यतीत हो जाते हैं । अतएव एक ही काल नहीं कहला सकता क्योंकि शब्द के श्रोत में जाने के पश्चात् उसके अर्थों का ज्ञान होता है । द्वितीय यह उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि दो ज्ञान नहीं अपितु शब्दार्थ सम्बन्ध से दोनों का ज्ञान एक ही कहना ठीक है ।

(प्र०) शब्द और अर्थ दो पृथक् २ वस्तु हैं । अतएव इनका ज्ञान भी पृथक् २ होगा क्योंकि बहुत से मूर्ख मनुष्य शब्द सुनकर भी अर्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ रहते हैं । यदि शब्दार्थ एक होते तो जिसको शब्द का ज्ञान होता उसको अर्थ का बोध होना आवश्यक था परन्तु ऐसा बहुत स्थानों पर नहीं होता, जिससे शब्दार्थ का पृथक् होना सिद्ध होता है । अतएव शब्दार्थ का ज्ञान दो वस्तुओं का ज्ञान है ।

(उ०) आपके इस कथन से साफ प्रतीत होगया, कि मूर्ख मनुष्यों को शब्द के साथ अर्थ का ज्ञान नहीं होता जिससे एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हुआ और जानने वाले को शब्द के सुनने के पश्चात् उसके जाने हुए अर्थ की स्मृति होती है । अतएव एक काल में दो ज्ञान नहीं होते, इसका उत्तर महात्मा गौतमजी यह देते हैं :

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

अर्थ—तीनों काल में सिद्ध न होने से आपका खण्डन करना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि खण्डन तीन अवस्थाओं के सिवाय और ढङ्ग से होना असम्भव है या तो प्रमाण ज्ञान से प्रथम उसका खण्डन होगा, अथवा प्रमाण ज्ञान के सहित अथवा प्रमाण ज्ञान के पश्चात् । अब तीनों अवस्थाओं में खण्डन सत्य नहीं । क्योंकि यदि यह कथन किया जावे, कि प्रमाण ज्ञान के प्रथम उसका खण्डन करेंगे तो बिल्कुल असत्य है, क्योंकि किसी वस्तु का बोध होने के पश्चात् उसका खण्डन हो सकता है, जिस वस्तु का ज्ञान ही नहीं उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं और जिसकी सत्ता का ज्ञान नहीं उसका खण्डन होना असम्भव है । यदि कथन करो कि प्रमाण की सत्ता के ज्ञान के पश्चात् उसका खण्डन

करेंगे, तो भी ठीक नहीं क्योंकि जिस वस्तु की सत्ता का पूरा ज्ञान हो जावे उसका खण्डन किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं। यदि कहो कि एक काल में प्रमाण और उसकी सत्ता का खण्डन होगा तो यहाँ फिर वही तुम्हारी विरुद्ध युक्ति उपस्थित हो जायगी। अतएव आपकी यह युक्ति तीनों काल में सिद्ध न होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हैं, बिलकुल असत्य है। क्योंकि तुम्हारा खण्डन भी तीनों काल में सिद्ध नहीं होता जिससे पूरा पता मिलता है कि युक्ति असत्य है। क्योंकि इसकी सत्ता पूरे तात्पर्य के स्थान मे स्वसत्ता को सिद्ध नहीं कर सकती। इसके खण्डन मे महात्मा गौतम आगे और युक्ति उपस्थित करते हैं।

सूत्र—सर्व्वप्रमाणप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१३॥

अर्थ—यदि प्रमाणों का खण्डन सत्य माना जावे तो खण्डन होना असम्भव है। खंडन के सत्य और असत्य होने मे किसी न किसी प्रमाण की आवश्यकता है, जब प्रत्येक प्रमाण की सत्ता नष्ट हो गई तो उस खंडन को सत्य सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण ही नहीं। अतएव सत्य का प्रमाण न मिलने से खडन स्वयंमेव असिद्ध होगया।

(प्र०) खंडन क्यों असिद्ध होगा। सम्भव है कि सत्य हो क्योंकि सत्यासत्य के वास्ते प्रमाण आवश्यक है उसका असिद्ध कह देना किस प्रकार सत्य हो सकता है?

(उ०) प्रमाण की आवश्यकता भाव अर्थात् सत्ता के सिद्ध करने के लिए होती है। शून्य के वास्ते नहीं। जो खंडन करने वाली वादी है उसका कार्य्य है, कि खंडन को सिद्ध करले और जब तक खंडन का पक्ष सिद्ध न हो जावे तब तक वह स्थानीय रूप से स्थिर नहीं और प्रमाणों का खंडन सिद्ध न हुआ तो प्रमाण सिद्ध हो गए।

(प्र०) यदि प्रमाण के खंडन में प्रमाण न होने से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती और प्रत्येक वस्तु की सत्ता के वास्ते प्रमाण की आवश्यकता हो, तदापि प्रमाण का खंडन हो जायगा, क्योंकि प्रमाण को भी

अपनी सत्ता के वास्ते द्वितीय प्रमाण की आवश्यकता है और द्वितीय प्रमाण को तृतीय प्रमाणकी। एवमेव यह क्रम अनन्त हो जावेगा। यदि यह कथन किया जावे कि प्रमाण के वास्ते किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, तुम्हारा सिद्धान्त नष्ट हो गया कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता बिना प्रमाण के विश्वसनीय नहीं हो सकती। जब आपके प्रमाण को ही प्रमाण की आवश्यकता है, और तुम उसको बिना प्रमाण सिद्ध जानते हो, तो वह सिद्धांत ठीक न रहा कि प्रत्येक सत्ता के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। जब यह सिद्धान्त ठीक न रहा तो प्रमाणों का खंडन ठीक है।

(उ०) प्रत्येक वस्तु का आधार होता है। परन्तु आधार का आधार नहीं, अतएव मूल सर्वदा बिना मूल के माना जाता है। चक्षु प्रत्येक वस्तु के रूप को देखता है, परन्तु चक्षु के देखने के वास्ते किसी द्वितीय चक्षु की आवश्यकता नहीं। परन्तु चक्षु का प्रतिबिम्ब किसी दूसरी वस्तु में चक्षु ही से देखा जाता है। अतएव प्रमाण के प्रमाणित करने के लिए किसी द्वितीय प्रमाण की आवश्यकता नहीं, किन्तु प्रमाण स्वयमेव सिद्ध है। प्रत्येक वस्तु के रूप को देखने के वास्ते चक्षु की आवश्यकता है। और बिना चक्षु के रूप का ज्ञान होना सम्भव नहीं, परन्तु चक्षु स्वयमेव द्वितीय चक्षु बिना स्वप्रतिबिम्ब के द्वारा अपने रूप को देखता है। एवमेव प्रमाण का सिद्ध होना प्रमेय ज्ञान के द्वारा हो जाता है। किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अतएव न सिद्धान्त का खण्डन होता है और न ही अनावस्था होती है। आगे चलकर प्रमाणों के प्रमाणित करने के वास्ते एक और युक्ति उपस्थित करते हैं।

सू०—तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥१४॥

अर्थ—यदि इस खंडन को कि प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हैं,

प्रमाण देकर सिद्ध किया जावे तो खण्डन के वास्ते प्रमाण के मिल जाने से खण्डन का आधार प्रमाण पर जा रहेगा और जिस खण्डन का आधार प्रमाण पर हो वह प्रमाण के नष्ट होने पर किसी प्रकार भी स्थिर नहीं रह सकता। जब खण्डन स्थिर न रहा तो विपक्षी का कुल पक्ष ही नष्ट हो गया।

(प्र०) तुमने विपक्षी की युक्ति का खण्डन करके प्रमाणों को सिद्ध कर दिया, परन्तु प्रमाण की सत्ता में कोई युक्ति नहीं दी।

(उ०) यदि किसी वस्तु के खण्डन में जो युक्तियां उपस्थित हो जावें और वह असत्य सिद्ध हो जावे तो विपक्षी का पक्ष स्थिर रहता है।

(प्र०) यद्यपि विरुद्ध युक्तियों के खण्डन से विपक्षी का पक्ष स्थित रहता है, परन्तु उसके सत्य होने में फिर भी संशय रहता है जब तक कि विपक्षी अपने पक्ष के प्रतिपादन में अपनी युक्तियाँ उपस्थित न करे। अतएव जबतक प्रमाणों की सत्ता के सत्य होने में युक्तियां न मिल आवें, तब तक पक्ष सिद्ध नहीं कहा जा सकता।

(उ०) जो मनुष्य किसी विषय के खण्डन में युक्तियाँ उपस्थित करे यदि वह युक्तियाँ असिद्ध हो जावे तो निग्रहस्थान में आ जाता है। उसका महत्व नहीं रहता। परन्तु आगे इस विषय पर और भी युक्तियां उपस्थित की जायेंगी।

सू०—त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥१५॥

अर्थ—तीनों काल में होने का जो खण्डन किया गया वह बिना युक्तियों के है, जैसा कि प्रथम वर्णन हो चुका है, कि ज्ञात होने का कारण और जो वस्तु ज्ञात हो इन दोनों में से किसी एक का कहीं दूसरे से प्रथम और कहीं पश्चात् और किसी जगह एक साथ होना सिद्ध होने से और कोई खास नियम न होने के कारण जहाँ जैसा हो वहाँ वैसा ही कथन करना चाहिये। इसका उदाहरण पहले दे चुके हैं। यहाँ

केवल नमूने के तौर पर बयान किया है कि शब्द से बाजों की सिद्धि होने के अनुसार प्रमाण की सिद्धि होने से तीनों काल में होने का खण्डन होना असम्भव है। क्योंकि किसी समय पूर्व विद्यमान बीन सितारादि बाजों का शब्द के द्वारा अनुमान किया जाता है। उस समय वाद्य जानने योग्य वस्तु और शब्द जानने का कारण होता है। ऐसे ही पूर्व सिद्धि प्रमेय अर्थात् मालूमात के पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रमाणों के द्वारा सिद्ध देखी जाती है। इससे तीनों काल में प्रमाण को न होने का पक्ष बिना युक्ति है इसके निरूपण से यह पता लगता है कि यदि वाद्य किसी मकान में बज रहा है जहाँ से हमको दृष्टिगोचर न हो तो उसका ज्ञान आवाज से ही हो सकता है बिना आवाज के उसका ज्ञान नहीं हो सकता और आवाज के होते ही मालूम होने लगता है कि 'बीन' बज रही है या 'बांसरी' बज रही है। अब बांसरी या बीन के मालूम होने का कारण आवाज प्रमाण है। अथवा चक्षु श्रोत्र नासिकादि से प्रमेय का ज्ञान होता है अतएव प्रमाण को पश्चात् सिद्ध होने में जो युक्ति दी गई थी कि प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि न होगी। इस युक्ति से जो तीनों काल में न होना सिद्ध किया गया वह ठीक नहीं। एक ही वस्तु जिस समय किसी के ज्ञान का साधन हो तब प्रमाण कहलाती है। और जब जानने योग्य हो तब प्रमेय कहलाती है। इसका उदाहरण अगले सूत्र में बयान किया जाता है।

(प्र०) उपरोक्त सूत्रों में एवं प्रकार का चक्र सा पाया जाता है जिससे सत्य वार्ता का पता लगाना कठिन प्रतीत होता है। क्योंकि यदि प्रमाणों का खण्डन ठीक मान लिया जावे तो खण्डन के सत्य या असत्य होने का प्रमाण नहीं मिल सकता। यदि उनको असत्य माना जावे तो प्रमाणों के द्वारा प्रमाणों को मालूम करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि प्रमाण जब सत्य माने जावेंगे तो प्रमिती अथवा सत्य ज्ञान का कारण समझ कर ही उन्हें माना जावेगा। तो प्रमाणों के मालूम करने

के वास्ते यह जरूरी और दूसरे कारणों की तलाश भी आवश्यक है, और उसका इन प्रमाणों से पृथक् होना आवश्यक है। क्योंकि जब इन प्रमाणों के शून्य होने की परीक्षा की जावेगी उस समय यह प्रमाण प्रमेय हो जावेंगे और कोई प्रमेह बिना प्रमाण के सिद्ध न हो सकेगा। यही नियम माना जावे तो प्रमाण किस प्रकार प्रमाणित होंगे। यदि यह कहा जावे कि इनमें से जो एक की परीक्षा करेंगे और दूसरा उसके वास्ते कारण हो जावेगा तो प्रमाणों की सिद्धि अन्योन्यश्रय होगा। जिससे किसी एक का स्थित होना कठिन हो जायगा।

(उ०) यदि नियमानुसार विचार किया जावे तो कुछ भी कठिन नहीं; क्योंकि हमारे सामने बहुत से उदाहरण उपस्थित हैं। यथा पिता और पुत्र में जब किसी को पिता कहा जावेगा तो उसके वास्ते पुत्र का होना आवश्यक होगा और जब पुत्र कहा जावेगा तो पिता का होना आवश्यक है। बिना पुत्र के होने के कोई पिता नहीं कहला सकता और बिना पिता के कोई पुत्र नहीं हो सकता। इससे साफ प्रतीत होता है कि यह बातें परस्पर सापेक्ष हैं और जिस बात का प्रमाण प्राकृतिक नियमों से मिल जावे वह कभी असत्य नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक हेतु के वास्ते उदाहरण का होना आवश्यक होगा और जिस पक्ष के वास्ते युक्ति और उदाहरण दोनों प्राप्त हों उसको किसी प्रकार भी असिद्ध कहना ठीक नहीं और युक्ति की असिद्धता भी उदाहरण ही से प्रतीत हो जाती है। इस पर एक उदाहरण देकर समझते हैं।

सू०—प्रमेयता च तुला प्रामाण्यवत् ॥१६॥

अर्थ—प्रमाण की परीक्षा के समय उसका प्रमेय होना तुला के प्रमाण की तरह है। जिस तरह प्रत्येक वस्तु के भार करने में काँटे और वाट प्रमाण समझे जाते हैं, किन्तु तुला और वाट का भार मालूम करना होता है अर्थात् इस संशय के होने पर कि इस वाट का भार ठीक है अथवा नहीं, उसके प्रमाण के वास्ते दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती

है, अर्थात् दूसरे बाट से भार करने के बिना उस बाट के भार का ठीक होना साफतौर पर मालूम नहीं हो सकता । परन्तु इसके वास्ते कौन प्रमाण होता है ? उन्हीं प्रमेय में से कोई प्रमेय ही उसके भार करने के वास्ते प्रमाण बन जाता है । अतएव प्रत्येक प्रमाण और प्रमेह को समझना चाहिए, कि जब वह ज्ञान का कारण होगा तब प्रमाण कहलायेगा और जब ज्ञान का विषय होगा तब प्रमेय कहलायेगा । आत्म-ज्ञान का विषय होने से प्रमेय में गिना जाता है । परन्तु ज्ञान को प्राप्त करने में स्वतन्त्र होने से वह प्रमाता कहा जाता है और ज्ञान बाहरी वस्तुओं के जानने का कारण होने से प्रमाण कहलाता है और ज्ञान का विषय होने से प्रमेय भी होता है और प्रमाण और प्रमेय से पृथक् होने से ठीक २ ज्ञान अथवा प्रमिति कहलाता है । अतएव प्रत्येक अवसर पर जैसा प्रसंग से प्रतीत हो वैसा ही समझना चाहिए । इसी प्रकार कारक शब्द का फैसला होता है । यथा—वृक्ष खड़ा है । वृक्ष के खड़े होने में दूसरा सहायता करने वाला नहीं वृक्ष खड़े होने में स्वतन्त्र है, इसी वास्ते कर्त्ता समझा जाता है । क्योंकि स्वतन्त्रा से क्रिया करने वाले को कर्त्ता कहते हैं । वृक्ष को देखता है, यहाँ चक्षु के द्वारा देखने योग्य वस्तु होने के कारण वृक्ष कर्म कहलाता है । वृक्ष से चन्द्रमा को देखने में, वृक्ष देखने का साधन होने से कारण कहलाता है ।

(प्र०) कारण किसे कहते हैं ?

(उ०) जो कर्त्ता का कर्म करने में सहायक हो, वह कारण कहलाता है ?

(प्र०) सम्प्रदान किसे कहते हैं ?

(उ०) जिसके वास्ते कोई कर्म किया जावे वह सम्प्रदान कहलाता है । वृक्ष के लिए जल देता है, यहाँ वृक्षा सम्प्रदान है ?

(प्र०) अपादान किसे कहते हैं ?

(उ०) जो किसी वस्तु के पृथक हो जाने से निश्चल बना रहे

उसे अपादान कहते हैं। वृक्ष से पत्ता गिरता है, इस स्थान पर वृक्ष अपादान है। वृक्ष में जन्तु हैं, इस स्थान पर वृक्ष उन जन्तुओं का आधार है। जो किसी वस्तु का आधार हो उसे अधिकरण कारक कहते हैं। इस प्रकार विचारने से मालूम होता है कि न तो प्रत्येक द्रव्य ही कारक है और न कर्म की कारक है किन्तु खास प्रकार की क्रिया अर्थात् कर्मवान् कर्म का कारण कारक है। इस तरह छः कारकों को समझलेना चाहिये।

(प्र०) छः कारक कौन से हैं?

(उ०) १ कर्त्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान, ६ अधिकरण।

(प्र०) यह किस प्रकार मान लिया जावे कि एक ही वस्तु प्रमाण भी हो जावे और वही प्रमेय भी हो सके।

(उ०) यह तो प्रत्यक्ष ही है, कि एक ही मनुष्य अपने पिता के विचार से पुत्र और अपने पुत्र के विचार से पिता कहा जाता है। इसी यथावसर प्रमाण और प्रमेय होते हैं।

(प्र०) जिस समय प्रमाण की परीक्षा करते हैं वह उस समय प्रमेय हो जाता है, तो उस समय प्रमाण का धर्म उसमें रहता है अथवा नहीं? यदि कहो कि रहता है तो एक की वस्तु में प्रमाण और प्रमेय का धर्म किस प्रकार रह सकता है? यदि कहो नहीं रहता तो वस्तु की सत्ता में उसका धर्म किस प्रकार नष्ट हो सकता?

(उ०) जिस प्रकार एक सेर का बाट छटांक से बड़ा और पंसेरी से छोटा है। अब सेर में छटांक से बड़ाई और पंसेरी से छोटाई अथवा नहीं। यद्यपि बहुत कम जानने वाले मनुष्य कहने लगेंगे कि बड़ाई और छोटाई दो विरुद्ध धर्म एक में किस प्रकार रह सकते हैं? परन्तु यहां विरुद्ध नहीं, जो विरुद्ध होने के कारण असम्भव हो जावें। यदि एक ही वस्तु से बड़ा छोटा कहा जावे तो विरोध हो जाता है परन्तु जहां किसी से छोटा और किसी से बड़ा कहा जावे वह अपेक्षा होती है,

विरोध नहीं होता। जिस तरह छोटाई बड़ाई अपेक्षा से एक सेर में रह सकती है। इसी तरह प्रमाण और प्रमेय का धर्म एक वस्तु में रह सकता है। क्योंकि जिस समय पर जिसके वास्ते वह प्रमाण है, उसके वास्ते प्रमेय उस समय पर नहीं है।

(प्र०) प्रत्यक्षादि किस प्रकार जाने जाते हैं ?

(उ०) प्रत्यक्षादि इस प्रकार मालूम होते हैं जैसे मैं प्रत्यक्ष से जानता हूँ, अर्थात् मैंने अपनी इन्द्रियों से मालूम किया है प्रथम अनुमान से जानता हूँ, अथवा उपमान से जानता हूँ अथवा शास्त्र से मालुम करता हूँ। मेरा ज्ञान प्रत्यक्ष से है, अनुमान से है, अथवा उपमान से, न शास्त्रों से उत्पन्न हुआ है। इस तरह विषेश प्रकार के ज्ञान से उनके कारण का बोध हो जाता है। जैसे जो ज्ञान इन्द्रियार्थ से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अब इस ज्ञान का कारण इन्द्रिय है। इस तरह एक प्रमाण का सिद्ध होना सम्भव है।

(प्र०) यदि प्रमाण के लिये प्रमाण से सिद्ध किया जावे तो उसमें क्या हानि है ?

उ०—प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥१७॥

अर्थ—यदि प्रमाण को प्रमाण से सिद्ध किया जावे तो प्रत्येक प्रमाण को सिद्ध करने के लिये और प्रमाणों को आवश्यकता होती जायगी। जहाँ तक कि प्रमाणों का क्रम कभी समाप्त न होगा। उदाहरण यह है, कि जिस प्रमाण से तुम पहिले प्रमाण को सिद्ध करोगे उसके लिये और तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होगी। इसी तरह तीसरे के लिये चौथे की। तात्पर्य यह है, कि इसी तरह अनन्त प्रमाणों के होने से भी काम नहीं चलेगा। अन्त में प्रमाण को बिना प्रमाण ही सत्य मानना पड़ेगा। जब अन्त में जाकर भी परिणाम वही निकलेगा तो परिश्रम करना निष्फल है। विपक्षी इस सिद्धान्त पर कि प्रमाण बिना प्रमाण के सिद्ध हो जाता है इस पक्ष को उठाता है—

पक्ष—तद्वि निवृत्तेर्वा प्रमाणान्तर सिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥१८॥

अर्थ—यदि प्रमाण को बिना प्रमाण सत्य मान लोगे और उसकी सिद्धि को किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं मानोगे, तो तुम्हारे इस सिद्धांत का खण्डन हो जाने से, कि बिना प्रमाण की कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती, प्रमेय का सिद्ध होना भी बिना प्रमाण के ही मानना पड़ेगा और जब प्रमेय बिना प्रमाण सिद्ध हो गया तो कुल प्रमाणों की सत्ता की आवश्यकता न रहने से उनका खण्डन हो जावेगा क्योंकि प्रमेय के सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता थी, और सिद्धांत यह था कि बिना प्रमाण किसी वस्तु का ज्ञान होना असम्भव है। जब यह सिद्धांत प्रमाण की सिद्धि के बिना प्रमाण के होने से नष्ट हो गया, तो कुछ प्रमाणों का स्वयमेव खण्डन होगया अब इसके खण्डन की कोई आवश्यकता न रही। अब इस पर महात्मा गौतम जी सिद्धांतसूत्र लिख कर इस विवाद का निर्णय करते हैं।

(सिद्धान्त) न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

अर्थ—महात्मा गौतमजी इस सूत्र में दीपक का उदाहरण देकर इस बात का फैसला करते हैं, जिस तरह बिना दीपक के चक्षु किसी वस्तु को देख नहीं सकती, परन्तु दीपक के देखने के वास्ते आँख को किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नही और दीपक के होने न होने का ज्ञान प्रकाश के होने न होने से हो जाता है। तब दीपक उपस्थित होता है तब आँख प्रत्येक वस्तु को देखती है और जब नहीं होता तब नहीं देखती। इस तरह पर आँख के देखने और न देखने से दीपक के होने और न होने का अनुमान होता है और प्राप्त उपदेश से भी पता लगता है कि जहाँ अन्धकार हो वहाँ दीपक जला कर वस्तुओं को मालूम करो। इस तरह प्रत्यक्षादि द्वारा जिन-जिन चीजों का ज्ञान होता है उन्हीं वस्तुओं के ज्ञान से प्रत्यक्ष के होने का अनुभव किया जाता है और इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से जो सुख-दुख का प्रभाव मन के

द्वारा आत्मा तक पाँचता है उससे मालूम हो सकता है जिस तरह दृश्य अर्थात् चक्षु से अनुभव किये जाने योग्य दीपक का प्रकाश दूसरी दृश्य वस्तुओं के देखने का कारण होता है, और वह दृश्य अर्थात् अनुभव करने योग और अनुभव करने का कारण सिद्ध होता है इसी तरह प्रमेय रूप पदार्थ जानने का कारण होने की अवस्था में प्रमाण और प्रमेय की ठीक व्यवस्था को प्राप्त करता है अर्थात् उसमें दोनों गुण अपेक्षा से पाये जाते हैं जिसके जानने का वह कारण है उसके वास्ते वह प्रमाण है। जो उसके जानने का कारण है उसकी अपेक्षा वह प्रमेय है। बस, यही प्रमाणादि के जानने का उपाय है।

प्रश्न—यदि प्रमाण से ही प्रमाण का ज्ञान होना मानोगे तो प्रमाता; प्रमाण और प्रमेय का भेद नहीं रहेगा।

उत्तर—वस्तुओं की विरुद्धता से प्रत्यक्षादि को उन्हीं प्रत्यक्षादि से प्राप्त नहीं कहा गया। जब एक प्रत्यक्ष को मालूम करने वाला दूसरी प्रकार का प्रत्यक्ष है तो पृथकता उपस्थित है। ऐसी अवस्था में भेद क्यों नहीं रहेगा।

प्रश्न—संसार में देखा जाता है कि एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु को देखते हैं और प्रत्यक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं जिससे प्रत्यक्ष को मालूम कर सकें।

उत्तर—वस्तुओं की पृथकता से उनके साधन भी पृथक-पृथक हैं। यथा रूप देखने के वास्ते चक्षु प्रत्यक्ष प्रमाण है, और शब्द सुनने के लिये श्रोत्र, इसी तरह प्रत्यक्ष अनेक प्रकार का है। अतएव एक वस्तु से दूसरी के मालूम होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यही अवस्था अनुमानिक प्रमाणों की है। तथा कुएँ में से निकले हुए जल को खारा या मीठा मालूम कर लेते हैं। इसी तरह जानने वाले आत्मा का भी अनुमान ही से ज्ञान होता है। जैसे यह विचार करके कि मैं दुःखी हूं अथवा सुखी हूँ यहां पर जानने वाले ही से जानने वाले आत्मा का ज्ञान

होता है और एक ही समय में मन में दो प्रकार का ज्ञान न होने से मन का अनुमान होता है। क्योंकि एक काल में दो ज्ञान का न होना मन का लक्षण है। महात्मा गौतमजी प्रत्यक्षादि प्रमाण की परीक्षा करके अब खास तौर पर पृथक पृथक प्रमाणों की परीक्षा करते हैं। क्योकि प्रमाणों में लक्षण करते समय प्रथम प्रत्यक्ष का ही लक्षण कहा था। अब परीक्षा भी प्रथम प्रत्यक्ष की ही करते हैं। यह पूर्वपक्ष का सूत्र है:—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥

अर्थ—क्योंकि प्रत्यक्षके लक्षणमें पूरेतौर पर बयान नहीं किया गया अतएव प्रत्यक्ष का जो लक्षण कहा है वह ठीक नहीं हो सकता। अब प्रश्न होता है की प्रत्यक्ष के लक्षण में क्या हानि है ? तो उत्तर प्राप्त हुआ कि उसका पूरा कारण नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण यह कहा है कि जब इंद्रियार्थ से ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष कहलायेगा। परन्तु केवल इन्द्रियार्थ के कारण से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञान इस तरह पर उत्पन्न होता है कि आत्मा का सम्बन्ध मन से होता है और मन का संबंध इंद्रियों से और इन्द्रियों का सम्बन्ध वस्तुओं से होता है। जबकि ज्ञान के लिये आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थों का सम्बन्ध बतलाना चाहिये था और बतलाया केवल इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध और इससे कोई ज्ञान उत्पन्न होना सम्भव नहीं। अतएव यह लक्षण अपूर्ण हैं। और जो लक्षण अपूर्ण हो वह लक्षण ठीक नहीं कहला सकता। इस वास्ते प्रत्यक्ष का लक्षण बिलकुल ठीक नहीं है।

(प्र०) क्या इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं हो सकता, यदि होना मान लिया जावे तो क्या आपत्ति होगी ?

उ०—पहिले बतला दिया गया, कि प्रमाता अर्थात् जानने वाला प्रमाण अर्थात् जानने का कारण प्रमेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु के प्रमिति अर्थात् ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है। जब तुम प्रमाता अर्थात् जानने वाले को न मान कर केवल प्रमाण और प्रमेय से ज्ञान का

उत्पन्न होना मानोगे, तो ठीक नहीं, क्योंकि जानने वाला ही नहीं।

प्र०—यदि हम आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानलें और मन को न मानें तो क्या हानि है?

उ०—उस अवस्था में एक ही समय में सब इन्द्रियों के अर्थ का ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। इस वास्ते मन का भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। बस यह लक्षण प्रत्यक्ष का ठीक नहीं। इस पर और हेतु देते हैं—

नात्ममनसो सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा और मन के सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भ है। जैसे इन्द्रिय और अर्थ के मध्य परदा होने से उनका सम्बन्ध न होने पर किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह आत्मा और मन का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान नहीं हो सकता। जैसा कि प्रायः देखने में आता है, कि मनके दूसरी ओर लगे होने पर भी किसी आवाज के सुनने पर भी उसका ठीक २ मतलब समझ में नहीं आता और प्रायः बहुत सी वस्तु सामने से निकल जाती हैं और उनका ज्ञान नहीं होता। इसलिए साफ तौर पर पता लगता है, कि बिना आत्मा और मन के सम्बंध के ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है और असम्भव उपदेश ठीक नहीं होता। इस वास्ते प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं। इसके सिवाय लक्षण में और कमी बतलाते हैं—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

अर्थ—दिशा, देश, काल और आकाश के बिना भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस वास्ते प्रत्यक्ष के लक्षण में इनके कथन की भी आवश्यकता थी क्योंकि ये वस्तु प्रत्येक समय में मन से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इनका सम्बंध किसी वस्तु से टूट ही नहीं सकता इस वास्ते जिस प्रकार आत्मा का मन से और मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का

विषयों से सम्बन्ध को ज्ञान का कारण माना है, इसी तरह से दिशा-कालादि को भी ज्ञान का कारण मानना चाहिए। क्योंकि जिसके बिना जो चीज उत्पन्न नहीं हो सके वह उसका कारण कहलाता है । जबकि दिशा कालादि के संयोग के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न हो नहीं सकता तो साफतौर पर यह ज्ञान का कारण है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के सब कारण बयान न करना ठीक नहीं। अतएव प्रत्यक्ष का लक्षण अपूर्ण है अब इसका उत्तर महात्मा गौतमजी देते हैं :—

ज्ञानलिंगत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २३ ॥

अर्थ—क्योंकि आत्मा का लिंग ज्ञान है इस वास्ते प्रत्येक ज्ञान के प्राप्त करने में दिशा आदि अज्ञानवान् वस्तुओं को कारण मानना आवश्यक नहीं और उनके न कहने से कोई हानि नहीं है । इसलिए दिशा काल के साथ आत्मा का संयोग ज्ञान के कार्यों में ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा ज्ञान के साथ नित्य सम्बन्ध रखता है और ज्ञान क्योंकि आत्मा ही को होता है इस वास्ते उसके न बयान करने में कोई हानि नहीं क्योंकि ऐसे कारण जिनका सम्बन्ध कभी हो कभी न हो बतलाने आवश्यक हैं। क्योंकि उनके होने से काम का होना और न होने से न होना अम्भव है। और जिसके साथ नित्य सम्बन्ध हो उसके न बयान करने से कोई हानि नहीं प्रतीत होती है क्योंकि उसका ज्ञान स्वयमेव सम्बन्ध से हो जाता है और उपदेश केवल ज्ञान के लिये किया जाता है। जहां बिना उपदेश के ज्ञान हो जावे वहां उपदेश की क्या आवश्यकता है। इसलिये प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मा के न ग्रहण करने से कोई हानि नहीं ।

प्रश्न—आत्मा के न बयान करने का पक्ष तो आपने आत्मा का लिङ्ग ही ज्ञान होने से दूर कर दिया। मन के न बयान करने का दोष तो शेष है।

तदयौगपद्यलिंगत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस तरह ज्ञान का आत्मा के लिङ्ग होने से आत्मा के कथन करने की आवश्यकता नहीं उसी तरह पर मन के बिना भी बहुत से ज्ञानों का एक साथ होना आवश्यक था। किन्तु यह दृष्टि में नहीं आता, कि एक साथ बहुत सी वस्तुओं का ज्ञान हो जावे। इस वास्ते प्रत्येक ज्ञान के साथ जो क्रम से प्रतीत होता है मन का सम्बन्ध आवश्यक प्रतीत होता है और जिसका संयोग आवश्यक हो उसके कथन करने की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—मन का सम्बन्ध ज्ञान के साथ आवश्यक मानने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—क्योंकि पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक समय पर एक साथ काम करती हैं किन्तु ज्ञान एक साथ नहीं होता, यदि इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध से ही ज्ञान होता तो सब विषयों का एक साथ ही ज्ञान होता जिसका होना बतला रहा है कि जिस इन्द्रिय के साथ मनका संबंध होता है उसी के अर्थ का ज्ञान होता है। जिसके साथ मन का सम्बन्ध नहीं होता उसके अर्थ का ज्ञान भी नहीं होता। अर्थात् अर्थ का ज्ञान होना मन और इन्द्रिय के संबन्ध पर ही आश्रित है। जब कि मन के बिना इन्द्रिय अर्थ का ज्ञान कर ही नहीं सकती तो मन ज्ञान का कारण आवश्यक हुआ।

प्रश्न—क्या केवल आवश्यक होने के कारण ही आत्मा और मन का कथन प्रत्यक्ष के लक्षणों में नहीं है।

उत्तर—यही कारण नहीं, किन्तु लक्षण उसको कहते हैं जो बिना उसके दूसरे में नहीं घट सके। आत्मा मन प्रत्येक ज्ञान के कारण हैं। चाहे वह प्रत्यक्ष से हो, अनुमान व उपमान से अथवा शब्द से। तात्पर्य यह है कि हर एक प्रमाण से होने वाले ज्ञान से आत्मा और मन का संबंध होता है और इंद्रियों का केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इंदिर और अर्थ का सम्बन्ध बतलाना

ही ठीक था। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इन्द्रिय और अर्थों का सम्बंध विशेषतया है। विशेषता यह है, कि मन अपने विचार में मगन होता है, कि यकायक विद्युत की कड़कड़ाहट श्रोत्र द्वारा मनको चौंका देती है। ऐसी अवस्था मे आत्मा जानने की इच्छा से मन को चौंका देती है। लगता किन्तु इंद्रियों के सम्बंध से मन और आत्मा को ज्ञान होता है। इस कारण से प्रत्यक्ष में आत्मा और मन का बड़ा भाग नहीं, किंतु इंद्रिय ही समझनी चाहिये।

प्र०—इंद्रिय और अर्थ के सम्बंध के प्रधान होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—तश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥२५॥

अर्थ—प्रत्यक्ष ज्ञान के इंद्रियों के कारण से उत्पन्न होने का प्रमाण यह विशेषता भी है कि जो भिन्न २ इंद्रियों के कारण से होती है। यथा किसी वस्तु के सुगन्धित और दुर्गन्धित होने का ज्ञान नासिका से सूँघने पर प्राप्त होता है। और रूप के अच्छे बुरे का ज्ञान श्रोत्र द्वारा होता है। इस प्रकार रूप रस, आवाज, गंध गरम सरद का ज्ञान कई प्रकार के प्रत्यक्ष इंद्रियों के कारण से होता है। इस वास्ते से प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रिय और अर्थो का सम्बन्ध ही प्रधान कारण है। और जैसे ऊपर कथन किया गया है कि प्रायः इंद्रिय और अर्थ का सम्बन्ध ही ज्ञान का कारण होता है आत्मा और मन का संबंध ज्ञान का कारण नहीं होता इस वास्ते प्रधान समझकर इंद्रिय और अर्थ का सम्बन्ध ही लक्षण में कथन किया गया। इस पर विपक्षी और हेतु देता है—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २६ ॥

अर्थ—यह ठीक नहीं, कि प्रत्यक्ष में इंद्रियां प्रधान हैं। क्योंकि यदि आत्मा और मन का सम्बन्ध ज्ञान का कारण न माना जावे, केवल इंद्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानी जावे,

तो एक काल में दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न न हो, जो मन का लक्षण कहा है, नष्ट हो जायगा। क्योंकि मन के लक्षणानुसार इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध को मन के सम्बन्ध की आवश्यकता है। वरन् एक काल में जब इंद्रियों के अर्थों का ज्ञान होना सम्भव है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान में भी मन और आत्मा के सम्बन्ध को शामिल करना चाहिये अथवा इस सूत्र का यह मतलब लेना चाहिये कि जब किसी एक कार्य में मन एकाग्र होता है तथा किसी अच्छे गान के सुनने में या और किसी प्रकार के विषय में, तो शेष इन्द्रियाँ उस समय भी विषयों से सम्बन्ध रखती हैं। यदि इन्द्रियों के कारण ज्ञान होता तो उस अवस्था में भी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। अत-एव यह सिद्धांत कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ प्रधान हैं, खण्डित होजाता है और यह लक्षण भी नष्ट हो जाता है कि इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। इसका उत्तर महात्मा गोतमजी देते हैं।

नार्थ विशेषप्राबल्यात् । २७ ।

अर्थ—उपरोक्त हेतु का उत्तर यह है, कि इसमें व्याघात अर्थात् अपनी बात का आप ही खण्डन नहीं है। आत्मा और मन का संयोग ज्ञान का कारण है। इसमें व्यभिचार नहीं होते। न होने का कारण क्या है। खास विषयों की विशेषता से तात्पर्य यह है, कि ऊँची आवाज के सुनने से सोया हुआ या किसी काम में फंसा हुआ मन फौरन जाग उठता है। इससे इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को प्रधान कहाजाता है। ज्ञान बिना मन के नहीं हुआ किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के सयोग से इसके स्थान में कि मन इन्द्रिय को जानने की ताकत दे, इंद्रिय ने मन को, जगाकर जानने की ताकत दी। इसलिए इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को प्रधान कथन करने से आत्मा और मन के सम्बन्ध का खण्डन नहीं हुआ। कार्य का बलवान होना इन्द्रिय को प्रधान बना देता है और निबल होने में मन प्रधान होता है। दोनों में पृथक

कारण से उत्पत्ति के कारण व्याघात नहीं है । और विशेषार्थ का बलवान होना इन्द्रियों का विषय है मन और आत्मा का विषय नहीं । इस वास्ते इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही प्रधान कारण है, क्योंकि सङ्कल्प न होने पर भी सोए हुए अथवा किसी विषय में फंसे हुए मन को इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के कारण ज्ञान हो जाता है। यद्यपि उसमें मन का साथ मिलना भी एक कारण है, किन्तु इंद्रिय और अर्थ के संयोग होते ही मन और आत्मा में क्रिया होने लगती है। इस वास्ते आत्मा इंद्रिय और अर्थ का संयोग उस क्रिया का कारण होता है। यद्यपि बिना आत्मा और मन के संयोग के ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है, तो भी विशेष अर्थ होने से, इसके स्थान में कि मन इंद्रियों को काम में लगाता, इन्द्रियों ने मन को काम में लगाया इसलिए इन्द्रियों को प्रधान मान कर प्रत्यक्ष इंद्रिय और अर्थ के संयोग से भी कथन किया गया । अब इस पर विपक्षी दूसरे प्रकार के हेतु देने प्रारम्भ करते हैं।

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ८ ॥

अर्थ—अब प्रत्यक्ष की परीक्षा में यह पक्ष उठाते हैं कि प्रत्यक्ष का मानना बेदलील है क्योंकि प्रत्यक्ष में जो लक्षण कहा है कि इंद्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है तो जब वृक्षादि के एक भाग को देखकर शेष सारे वृक्ष का ज्ञान हो जाता है तो जब ज्ञान प्रत्यक्ष में तो आ नहीं सकता, क्योंकि कुल अर्थ के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं हुआ और ज्ञान पूरे वृक्ष का हुआ है। इसलिए इसको अनुमान ही समझना चाहिये क्योंकि वृक्ष का एक भाग वृक्ष नहीं है किन्तु जिस तरह धूयें को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। इसके उत्तर में विपक्षी से कहना चाहिए कि क्या उस भाग से जिससे इन्द्रियों ने जाना है शेष वृक्ष को दूसरी वस्तु मानकर उसका अनुमान के योग्य होना मानते हो। यदि कथन करो ऐसा ही मानते हैं तो जिस देश के

भागों को इन्द्रियों के संयोग से जाना है उसको छोड़कर शेष भाग अनु-
मेय रहेंगे कि वृक्ष का अनुमान होगा क्योंकि जिस भाग को जान लिया
है उसके जानने के वास्ते दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं और एक
टुकड़े से दूसरे टुकड़े के अनुमान में कोई युक्ति नहीं क्योंकि इससे कोई
व्यक्ति नहीं और एक भाग के अनुमान को सब का अनुमान कहना
मिथ्या ज्ञान है।

प्र०—एक भाग के प्रत्यक्ष से दूसरे भाग का अनुमान करने में
क्या दोष होगा ?

उ०—प्रथम तो इसमें यह हानि है कि किसी प्रकार भी पूरे
वृक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि एक भाग प्रत्यक्ष है और दूसरा
अनुमेय है और प्रत्यक्ष और अनुमेय तो कई प्रकार की वस्तु हे और
एक अवयवी कई विशेषणों वाले हो नहीं सकते ।

प्र०—यदि हम ऐसा मानें, कि एक देश के प्रत्यक्ष से दूसरे का
अनुमान होना सम्भव है तो उसमें क्या हानि होगी ?

इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं—

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ २९ ॥

अर्थ—जितने भाग का प्रत्यक्ष से ज्ञान होगा उतने ज्ञान से ही
प्रत्यक्ष की सिद्धि हो जावेगी क्योंकि विपक्षी तो प्रत्यक्ष की नितान्त
शून्यता सिद्ध कर रहा है, जब उसने एक देश का प्रत्यक्ष होना मान
लिया तो उसके पक्ष का खण्डन हो गया। दूसरे यह है, कि प्रत्यक्ष के
न मानने पर तो अनुमान किसी तरह हो ही नहीं. सकता क्योंकि
अनुमान का लक्षण यह है कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण से दो वस्तुओं का
व्याप्ति ज्ञान होजावे तो उनमें से एक को देखकर दूसरे का :अनुमान
किया जाता है । यदि प्रत्यक्ष की सत्ता नितांत नष्ट कर दी जावे तो
अनुमान की सत्ता उससे प्रथम ही नष्ट हो जायगी, क्योंकि प्रत्यक्ष
अनुमान कारण है न कि अनुमान प्रत्यक्ष का । जब अनुमान के

कारण व्याप्ति का ज्ञान ही न होगा तो उसके कार्य अनुमान की उत्पत्ति किस प्रकार होगा और व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। जब प्रत्यक्ष ही सिद्ध न होगा तो अनुमान भी न होगा। विपक्षी जिस अनुमान के भरोसे पर प्रत्यक्ष के खण्डन तैयार हुआ था, वह अनुमान ही गुप्त हो गया।

प्र०—जब एक वस्तु के एक अवयव का प्रत्यक्ष होता है और बाकी अवयव प्रत्यक्ष नहीं होते और उससे वस्तु के होने का ज्ञान होजाता है तो इस ज्ञान को प्रत्यक्ष मानें वा अनुमान कहें! इसका उत्तर गौतम जी अगले सूत्र में देते हैं—

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३३ ॥

अर्थ—एक अवयव के प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष को सिद्ध करके इस सूत्र में दूसरे अवयव का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं। भाव यह है कि एक अवयव के प्रत्यक्ष होने से केवल उस अवयव का ही ज्ञान नहीं होता किन्तु अवयवी के 'सत्' होने से एक अवयव के ज्ञान होते ही उसके साथी दूसरे अवयवों के समूहभूत अवयवी का भी ज्ञान होजाता है। अवयवी के दो प्रकार के अवयव हैं एक प्रत्यक्ष से गम्य, दूसरे अगम्य, परन्तु एकावयवज्ञान से समूहभूत अवयवी का ज्ञान होना असम्भव नहीं, किंतु कारण के साथ ही कार्य का ज्ञान लोक में देखा गया है।

प्र०—जब एक भाग से दूसरा भाग पृथक् है तो एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है?

उ०—यह प्रश्न ठीक नही, क्योंकि ऐसा मानने में तो एकभाग भी प्रत्यक्ष नहीं माना जावेगा क्योंकि हर एक भाग को दूसरे भागों को इन्द्रियों से सम्बन्ध होने में रुकावट होगी। इस प्रकार किसी अवयवी को मालूम नहीं कर सकेंगे। क्योंकि न तो सम्पूर्ण का और न ही उस भाग का जिस का ज्ञान हुआ है ज्ञान समाप्त होता है यह एक भाग से दूसरे के न मालूम होने का खण्डन है। क्योंकि जब कुछ शेष न रहे तो

सम्पूर्ण का ज्ञान होता है। यदि कुछ भाग शेष रह जावे तो सम्पूर्ण नहीं कहला सकता। एक वस्तु में दूसरी के मिले होने से इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध में विषयों से रुकावट होती है। इस प्रकार रुकावट होने से ज्ञान न होना चाहिए किन्तु जब सम्पूर्ण का ज्ञान होना न मानोगे तो सम्पूर्ण कोई वस्तु ही न होगी और जब सम्पूर्ण कोई वस्तु न मानी जावे तो प्रत्यक्ष के विपक्षी से पूछो कि फिर किसके एक भाग का प्रत्यक्ष मानोगे क्योंकि सम्पूर्ण के न होने से भाग कहला सकता है और सम्पूर्ण होना उसके ज्ञान होने से मालूम हो सकता है।

प्र०–क्या जिस वस्तु का ज्ञान न हो उसको शून्य मानना चाहिये ?

उ०—हां, जिस वस्तु का किसी प्रमाण से भी ज्ञान न होसके उसकी सत्ता किसी प्रकार हो नहीं सकती। जितनी चीजें हैं सबके जानने के वास्ते कोई न कोई प्रमाण है। यदि कोई माने कि बहुत ऐसी वस्तुयें हैं जो प्रमाणों से नहीं जानी जाती जैसे ईश्वर तो उसका कहना बिलकुल ठीक नहीं,क्योंकि वस्तुओं की सत्ता प्रमाणसे प्रतीत होती है।

प्र०—ईश्वर की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है किन्तु ईश्वर की सत्ता को लोग मानते हैं, क्यों ?

उ०—प्रथम तो ईश्वर की सत्ता में शब्द प्रमाण है जिसके सम्बन्ध में बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। दूसरे सृष्टि की रचना से उसका अनुमान भी हो सकता है। इस वास्ते यह कहना कि ईश्वर की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, ठीक नहीं। तात्पर्य इस सूत्र का यह है कि जिस प्रकार जिन वस्तुओं को हम देखेंगे तो उसके ऊपर के भाग का प्रत्यक्ष होगा, अन्दर के भागों का नहीं होगा। उदाहरण यह है कि हम एक आदमी को देखते हैं तो उसकी त्वचा का प्रत्यक्ष होता है अन्दर के भागों का नहीं। अब त्वचा का नाम तो आदमी नहीं। आदमी तो कुल शरीर का नाम है। लेकिन कहा यह जाता है कि हम मनुष्य को प्रत्यक्ष परिमाण का ही प्रत्यक्ष होता है ?

देखते हैं। यह नहीं कहते कि हम त्वचा को देखते हैं। इस वास्ते एक देश के प्रत्यक्ष होने से सम्पूर्ण का ज्ञान होजाता है और वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

प्र०—यदि इस प्रकार त्वचा को देखकर शरीर के प्रत्यक्ष का पक्ष किया जावे तो उस अवस्था में ठीक हो सकता है कि जिस अवस्था में सम्पूर्ण शरीर को ठीक मान लिया जावे, जब सम्पूर्ण को न माना जावे तो वस्तु को देखने से सम्पूर्ण का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?

उ०—जब तुम वृक्ष के एक भाग को देखकर सम्पूर्ण वृक्ष का अनुमान करना मंजूर करते हो तो सम्पूर्ण के होने में किस प्रकार संशय करते हो। जब सम्पूर्ण की सत्ता का इकरार कर लिया तो एक भाग देखने से सम्पूर्ण का ज्ञान होना ठीक है। इस पर विपक्षी प्रश्न करता है—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३१ ॥

अर्थ—तुम जो अवयवी होना मानते हो यह ठीक नहीं क्योंकि इसमें साध्य होना अर्थात् प्रमाण का मोहताज होना पाया जाता है। जब तक प्रमाण से अवयवी का होना सिद्ध न होजावे तब तक मानना ठीक नहीं। प्रमाण से सिद्ध होने पर मानना चाहिए। और अवयवी के न होने का कारण यह है, कि एक ही वृक्ष में एक भाग तो हिलता है दूसरा बिलकुल नहीं हिलता, एक भाग का कुछ रङ्ग होना दूसरे भाग में दूसरा रङ्ग होना इस प्रकार के विशेषणों के देखने से अवयवी की सत्ता प्रमाण की मोहताज है, क्योंकि एक वस्तु में एक ही समय में दो विरुद्ध विशेषणों का होना सम्भव नहीं। इस वास्ते अवयवी के होने में संशय है, उसका होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर महात्मा गौतम जी देते हैं—

सूत्र—सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त सूत्र में जो आक्षेप किया है उसका उत्तर यह है कि यदि अवयवी को न माना जावे तो सब स्वरूप के न होने से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थों की सिद्धि न होने से किसी वस्तु का भी प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा। ऐसी दशा में सब वस्तुयें परमाणु रूप ही माननी पड़ेंगी और परमाणु इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकते।

प्र०—अवयवों के न मानने से द्रव्य की सिद्धि क्योंकर न होगी?

उ०—जिन द्रव्यों को इन्द्रियों से ज्ञात करते हैं; उन्हीं का होना स्वीकार किया जाता है और जो किसी प्रमाण से ज्ञात न हो उसके अस्तित्व को ठीक तौर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों से अवयवी का ही ज्ञान होता है, केवल अवयव का नहीं। यदि कोई अवयवी न हो तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? और यदि द्रव्य का ज्ञान न हो तो उसमें रहने वाले गुणादिकों का कैसे ज्ञान हो सकता है? और जब गुणों का ज्ञान न हो तब अन्य सब का भी ज्ञान होना असम्भव है।

प्र०—जब कि द्रव्य कारण और कार्य्य दो प्रकार के माने जाते हैं तो अवयवी के न होने से कार्य्य द्रव्यों का ज्ञान होगा, कारण का तो जरूर ही होगा। इस तरह पर अवयवों के न मानने पर भी यह आक्षेप दूर हो जावेगा?

उ०—क्योंकि जीवात्मा विना साधन अर्थात् मन इन्द्रिय आदि के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकता। जितनी इन्द्रियाँ हैं वे सब कार्य्य द्रव्य को ज्ञात करके ही कारण का अनुभव किया करती हैं। कार्य्य के न मालूम होने पर कार्य्य-कारण दोनों का ही ज्ञान न होगा, इस वास्ते अवयवी का मानना आवश्यक है।

प्र०—क्या अणु परिमाणु का ज्ञान नहीं हो सकता केवल महा॰

उ०—न तो अणुपरिमाण अर्थात् सबसे छोटी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है और न महा परिमाण अर्थात् सबसे बड़ी वस्तु का, किन्तु मध्य परिमाण अर्थात् बिचले दर्जे की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है जो अब अवयव हैं। अब अवयवी के होने में और युक्ति देते हैं—

उ०—न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥३०॥

अर्थ—बहुत सी वस्तुओं के धारण करने और खेंचने से भी अवयवी का होना सिद्ध होता है, क्योंकि यदि सब परमाणु ही हों और उनकी तरकीब से बनी हुई कोई वस्तु न हो तो खेंचने से एक ही परमाणु आना चाहिए शेष परमाणु नहीं आने चाहियें क्योंकि समस्त वस्तुको जहाँ स्थित करतेहैं वह वहाँही स्थित रहतीहै। इस वास्ते धारण और आकर्षण से अवयवी का होना सिद्ध होता है। यदि अवयवी अवयवों से पृथक न माना जाय तो धारण और आकर्षण होही नहीं सकते।

प्र०—क्या अवयवों (टुकड़ों) का धारण और आकर्षण एक साथ नहीं हो सकता? जिस तरह हम एक साथ चुनी हुई ईंटों को किसी चौकी पर धारण किया हुआ देखते हैं वे ईंटें अवयवी नहीं हैं किन्तु वे ईंटें सब अलग-अलग हैं।

उ०—जिस समय उस चौकी को खेंचगे तो वह शीघ्र ही गिरने लगेंगी। इस वास्ते धारण करने से भी आकर्षण के होते ही गिरने लगेंगी पर जिस समय किसी टुकड़े को खेंचते हैं तो इस तरह अलग-अलग नहीं हो जाते, किन्तु समस्त लकड़ी खिच आती है, इसलिए किसी बनी हुई वस्तु को केवल परमाणुओं का समूह नहीं कह सकते किन्तु उनमें सिवाय परमाणुओं के एक संयोग शक्ति है जिसने उन परमाणुओं को मिलाकर एक कर दिया है।

प्र०—सिवाय परमाणुओं के संयोग शक्ति किसमें रहती है? यदि कहो परमाणुओं में, तो वह उनका स्वाभाविक गुण है या

नैमित्तिक ?

उत्तर—पृथ्वी के परमाणुओं में संयोगशक्ति जल और अग्नि के कारण उत्पन्न होती है। जैसे कच्ची ईंटों में जल के कारण और पक्की ईंटों में अग्नि के कारण। जल के परमाणुओं में अग्नि के कारण और अग्नि के परमाणुओं में वायु के कारण और वायु में चेतन की क्रिया से संयोग-शक्ति पैदा होती है।

प्रश्न—यदि ईंट में संयोगशक्ति न मानी जावे, ईंट को केवल परमाणुओं का समूह ही माना जावे तो क्या हर्ज होगा ?

उत्तर—यदि ऐसा मानें तो धूल में और ईंट में क्या भेद होगा क्योंकि पार्थिव परमाणु समूह दोनों जगह समान है। केवल संयोग शक्ति ही से धूल और ईंट का भेद मालूम होता है, और ईंट को एक कह सकते हैं। धूल को एक नहीं कह सकते इसलिये अवयवी पृथक और परमाणु पृथक है।

प्रश्न—जैसे असंख्य पुरुष वाली सेना को एक अवयवी न होने पर भी दूर से एक मालूम करते हैं या जैसे दूर से वन बुद्धि से वृक्षों को 'एक, मालूम करते हैं वैसे ही सब जगह संयोग शक्ति के न रहते हुये भी 'एक' का ज्ञान हो सकता है।

उत्तर—सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम ॥३४॥

अर्थ—सेना और वृक्षों की तरह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि सेना और वन के वृक्षों का पृथक २ होने का ज्ञान केवल दूर से देखने के कारण से नहीं होता वस्तुतः उनमें पृथकता होती ही है। दूर होने के कारण उन वृक्षों के भेद शीशम आदि का भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु दृष्टान्त, परमाणु समूह को एक सिद्ध करने के लिये ठीक नहीं है, क्योंकि अणु किसी इंद्रिय का विषय नहीं, और सेना तथा वन के वृक्षों के देखने से उनके होने मात्र का ज्ञान नहीं होता, किन्तु मनुष्य जाति

तथा वृक्ष जाति का ज्ञान होता है। और वस्तु की जाति का ज्ञान होने से और वस्तुओं की पृथकता ज्ञान न होने से 'एक' है ऐसा जो ज्ञान पैदा होता है और परमाणुओं में एक होने का ज्ञान होने और किसी कारण से पृथक होने का ज्ञान न होने से जो 'एक' होने का ज्ञान होता है वह परीक्षणीय है कि क्या परमाणुओं का समूह ही एकत्व के ज्ञान का कारण है या नहीं, इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

प्रश्न—क्या सेना के सिपाही और वन के वृक्ष, अणुसमूह की तरह अलग-अलग होने पर एक नहीं मालूम होते ?

उत्तर—जबतक अवयवों से अवयवी न बन जावे अर्थात महा-परमाणु वाला न हो जावे तब तक इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता और जो वस्तु इन्द्रियों से ज्ञात न हो सके वह दृष्टान्त में नहीं आ सकती क्योंकि वह स्वयं प्रमाणापेक्षी है।

प्रश्न—सेना के सिपाही और वन वृक्ष भी परमाणुओं के समूह ही हैं। जैसे उनका प्रत्यक्ष होता है तब ही परमाणुओं के समूह के प्रत्यक्ष होने से अवयवी कोई वस्तु नहीं।

उत्तर—यह युक्ति ठीक नहीं। क्योंकि परीक्षा इस बात की हो रही है कि अवयवी, केवल परमाणुओं का समूह मात्र है या परमाणुओं में संयोग-शक्ति के कारण एक अवयवी पृथक बन गया है। जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि अवयवी कोई वस्तु नहीं, सिवाय परमाणु समूह के तब तक यह दृष्टांत ठीक नहीं हो सकता।

प्रश्न—यद्यपि वे सेना के मनुष्य और वन के वृक्ष पृथक हैं परन्तु उनकी पृथकता प्रकट नहीं होती। यह दृष्टांत प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए यह ठीक है कि अवयवी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं किन्तु पर-माणु समूह मात्र है और जो वस्तु प्रत्यक्ष हो उसका खण्डन नहीं हो सकता।

उत्तर—वन के वृक्षों और सेना के मनुष्यों की पृथकता का

ज्ञान न होना ठीक है और प्रत्यक्ष होने से परीक्षणीय नहीं परन्तु व्यभिचारी होने से प्रत्यक्ष के लक्षणों के अन्तर्भूत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके समीप जाने पर सेना का प्रत्येक पुरुष और जङ्गल का प्रत्येक वृक्ष पृथक् २ मालूम होने हैं इसलिए यह दृष्टान्त ठीक नहीं ।

प्रश्न-इस दृष्टांत के कह देने से अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि दृष्टांत एक अंश से अनुकूल हुआ करता है यदि सर्वांश में अनुकूल हो तो दृष्टांत ही क्यों कहा जाय ? किन्तु वह दार्ष्टांत (जिसके लिए दृष्टांत दिया जाता है वह) ही होजाए।

उत्तर—यद्यपि यह ठीक है दृष्टांत केवल अंग के प्रकट करने के लिए होते हैं, पर दृष्टांत के ठीक न होने से सिद्धांत ठीक नहीं रहता। अर्थात् जिस बात की सिद्धि में दृष्टांत दिया जावे, यदि दृष्टांत से वह बात सिद्ध न हो तो वह सिद्धांत खण्डित होजाता है। इसलिए तुम्हारा यह सिद्धांत कि समष्टि कोई वस्तु नहीं केवल परमाणुओं का संघात है, सर्वथा खण्डित होगया। अब इससे आगे अनुमान प्रमाण पर वाद विवाद होगा। वादी प्रत्यक्ष प्रमाण के खण्डन में बहुत हेतु देने पर भी उसका खण्डन न कर सका तो अब अनुमान प्रमाण का खण्डन करने के लिये निम्नलिखित सूत्र से आक्षेप करता है अर्थात् इस सूत्र से अनुमान की परीक्षा आरम्भ होती है। अनुमान के लक्षण में यह बतलाया गया था कि अनुमान तीन प्रकार का होता है। (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो दृष्ट। इन तीनों प्रकार के अनुमान के लिये जो दृष्टांत दिये गये हैं उसमें व्यभिचार दोष दिखलाकर उसका खण्डन करता है।

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ।३५।

(पूर्वपक्ष)

अर्थ—अनुमान के लक्षण में जो दृष्टांत दिये गये हैं, वे सब व्यभिचारदोष से युक्त हैं। प्रथम यह कहा गया है कि नदी में बाढ़ आने

से यह अनुमान किया जाता है कि ऊपर पहाड़ में वर्षा हुई होगी, किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं, क्योंकि ऊपर के भाग में किसी पहाड़ के गिर जाने से या बन्द लगाकर पानी रोक दिया जावे तो जिस समय वह पहाड़ का टुकड़ा अलग होगा या बन्द खोला जायगा, तब एक साथ नदी में बाढ़ आ जावेगी। जिससे वर्षा के होने का अनुमान सर्वथा मिथ्या सिद्ध होगा। यदि नदी की बाढ़ के कारण केवल पहाड़ में वृष्टि का होना ही होता, तब तो अनुमान ठीक था परन्तु उसका कारण पानी का रुकजाना भी है इसलिये व्यभिचार दोष होने से अनुमान ठीक नहीं। दूसरे यह भी कहा गया था कि चींटियों के अण्डों के निकलने और मोर का शब्द सुनने से यह अनुमान होता है कि अब वर्षा होगी, किन्तु इसमें भी व्यभिचार दोष आता है। क्योंकि अतिवेग से किसी वस्तु के गिरने से भी चींटियों को अण्डों के नाश होने का भय होता है, तभी वे अण्डों को लेकर भागने लगती है, यदि उनका घर टूट जावे तो वे अवश्य दौड़ने लगेंगी। मोर के शब्द से जो मेह के होने का अनुमान किया जाता है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य भी मोर का शब्द कर सकता है इसलिये मोर के शब्द मात्र से जो अनुमान किया जायगा वह अन्यथा हो सकता है। प्रमाण वह हो सकता है जिसमें सन्देह न हो और जो आप ही सन्दिग्ध है वह प्रमाणकोटि में कैसे आ सकता है? इसलिये तीनों प्रकार के अनुमान ठीक नहीं।

प्रश्न—अनुमान किस प्रकार किया जाता है।

उत्तर—व्याप्त अर्थात् सम्बन्ध के ज्ञान से।

प्रश्न—जहां सम्बन्ध के ज्ञान में विकल्प होगा वहां कारण के ठीक न होने से अनुमान ठीक न होगा, इस वास्ते मिथ्या अनुमान के खण्डन से अनुमान मात्र का खण्डन नहीं हो सकता।

उत्तर—हो सकता है, क्योंकि सब अनुमानों में विकल्प की सम्भावना है, क्योंकि उनकी सिद्धि में जो हेतु और उदाहरण दिये हैं,

वे सब व्याप्ति दोष से दुष्ट और वैकल्पिक हैं। इसका उत्तर स्वयं सूत्रकार गौतम जी देते हैं :—

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३६ ॥

(उत्तरप...

अर्थ—अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये गये है, वे ठीक नहीं और उसमें व्यभिचार दोष सिद्ध करने के लिए जो दृष्टान्त दिए गए हैं वे भी निर्बल हैं। क्योंकि पहिला दृष्टान्त तो एक देश का :सदा सर्वत्र नदी में बाढ़ इस रीति से नहीं आती और चींटियों का घर टूटने से अण्डे लेकर भागना भी भय के कारण से है वह भी स्वाभाविक नही और दूसरे कारण के होने से यह घटनाऐं पहिली घटनाओं से बिलकुल भिन्न हैं। इसलिए अन्य वस्तु के होने से हेतु में व्यभिचार दोष नहीं रहा। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि जो कारण हैं सब कृत्रिम हैं और अनुमान के कारण वास्तविक हैं इसलिए वास्तविक हेतुओं के सामने कृत्रिम हेतुओं के प्रस्तुत करने से अनुमान का खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि अनुमान का हेतु कृत्रिम हेतुओं से भिन्न बतलाया गयाहै, जो कारण अनुमान का हेतु नहीं है,उनको हेतु म नकर अनुमान का खंडन करना ठीक नहीं क्योंकि जल के वेग से चलने और उसमें झाग लकड़ी पत्ते आदि को बहाते और पानी को मैला देखने से पहाड़ में वर्षा होने का अनुमान किया जाता है केवल जलके आधिक्यसे अनुमान नहीं किया जाता। जल को रोक देने से उक्त तीनों बातें तो न होंगी केवल जल की अधिकता होगी इसलिए यह अनुमान का कारण ही नहीं इससे कोई बुद्धिमान अनुमान करेगा। चींटियों के बहुत देर तक अण्डों के लेकर चलने से वर्षा का अनुमान होता है उपघात से जो बे अण्डों को लेकर चलती हैं,वह तात्कालिक होने से अनुमान का प्रयोजक नहीं। मयूर के सदृश मनुष्य के शब्द से जो मयूर होने का अनुमान करता है, यह मिथ्यानुमान भ्रान्ति से अर्थात् वास्तविक और कृत्रिम शब्द में भेद न

करने से होता है इसलिए अनुमान नहीं है। तीनों प्रकार के अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये थे, उनका उत्तर दिया गया जो कि अनुमान तीनों कालों का होता है, इसलिये वर्त्तमानकाल को जो भूत और भविष्य के भेदों का कारण है। सिद्ध करते हैं, प्रथम वादी निम्नलिखिक सूत्र में वर्त्तमान सत्ता का निषेध करता है।

वर्त्तमानाभावः पततः पतित पतितव्यकालोपपत्तेः ।३७।

(पूर्वपक्ष)

उत्तर—जब वृक्ष से फल नीचे को गिरता है तब वृक्ष और भूमि में जो अन्तर है, उसमें से जो अन्तर गिरते हुए फल और वृक्ष में होता है, उसे भूत कहते हैं और जो अंतर फल और भूमि में होता है, उसे भविष्यत् कहते हैं अर्थात् वृक्ष फल गिरने में जो समय लगा है, वह भूत काल है और फल के भूमि तक पहुँचने में जो समय लगेगा, वह भविष्यत काल है, तीसरा कोई अन्तर नहीं, जिसके लिये वर्त्तमान काल की सत्ता मानी जावे। इसलिये वर्त्तमान का होना असम्भव है। इसका उत्तर सूत्रकार गौतम देते हैं—

सू०—तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात्॥३८॥

(उ० पक्ष)

अर्थ—वर्त्तमानकाल को न माना जावे तो भूत और भविष्यत् काल भी नहीं रह सकते। क्योंकि दोनों वर्त्तमान काल की अपेक्षा से उत्पन्न होते है।

प्रश्न—जब वृक्ष से फल गिरता है तब फल और वृक्ष के अन्तर का जो समय था, उसका नाम भूत काल और फल और भूमि के मध्य जो अन्तर है उसके तै करने में जो समय लगेगा वह भविष्यत् काल है जब कि तीसरा कोई अन्तर ही नहीं तो उसके लिए तीसरा काल अर्थात् वर्त्तमान काल किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ?

उत्तर—जिस स्थान पर फल को विद्यमान देखकर वृक्ष से फल तक और फल से भूमि तक का अन्तर मानकर उसको तय करने के लिए भूत और भविष्यत् को मानते हो, क्या उस स्थान में अन्तर नहीं है ? या उस स्थान से गुजरने में कोई समय नहीं लगता ? न तो वह स्थान जहां पर फल विद्यमान हैं अन्तर से पृथक हो सकता है, और न ही बिना समय के उस स्थान से गुजर सकता है इसलिये जो समय वहाँ की स्थिति में लगता है, वही वर्त्तमान काल है !

प्रश्न—समय क्या वस्तु है ?

उत्तर—समय वह है जिसका सम्बन्ध अनित्य पदार्थों से हो और नित्य न हो। अनित्य पदार्थों में यह इससे पहिले है और यह इसके पीछे है इस प्रकार के ज्ञान से समय की सत्ता का बोध होता है इसी-लिए जिन पदार्थों को समय की सीमा में पाते हैं उन्हें अनित्य कहते हैं और जो समय से बाहर हैं, वे नित्य कहलाते हैं इस प्रकार पदार्थों के अनित्य और नाशशील होने से समय तीन प्रकार का है। प्रथम वह समय जो समय की उत्पत्ति से पहिले का था, जिसको भूतकाल कहते हैं। दूसरा वह जो वस्तु को उपस्थित का है जिसे वर्त्तमान काल कहते हैं। जब कि भूत और भविष्यत् दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से हैं। तब वर्त्तमान के रहने से वे दोनों नहीं रह सकते। वर्त्तमान की सिद्धि में सूत्रकार और भी हेतु देते हैं—

सू०—नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥३६॥

(उ० पक्ष)

अर्थ—भूत और भविष्यत् में परस्पर कोई सम्बन्ध और अपेक्षा नहीं है, ये दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं जो वर्त्तमान से पहिले हो चुका, व भूत काल है और जो उससे आगे होगा, वह भविष्यकाल है। वर्त्तमान को छोड़ देने से भूत और भविष्य में कोई

सम्बन्ध या अपेक्षा नहीं रहती इसलिये वर्त्तमान के खण्डन से तीनों कालों का खण्डन हो जाता। जबकि वादी भूत और भविष्य दोनों कालों को मानता है तो वह उनके आधार वर्त्तमान काल से कैसे इन्कार कर सकता है? अब वादी को या तो तीनों कालों से इन्कार करना पड़ेगा या तीनों को मानना पड़ेगा। पहिली दशा में तो यह आपत्ति हानि रूप निग्रह स्थान में पड़ेगी, क्योंकि उसने आक्षेप करते समय भूत और भविष्य दोनों कालों को स्वीकार किया था; अब इनसे इन्कार किस तरह कर सकता है? दूसरी दशा में आक्षेप ही निर्मूल हो जाता है, क्योंकि जिस वर्त्तमान काल का खण्डन किया था उसको भी स्वीकार कर लिया। वर्त्तमान की सिद्धि में सूत्रकार और भी प्रमाण देते हैं।

सूत्र—वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४० ॥

(उत्तरपक्ष)

अर्थ—यदि वर्त्तमान काल को न माना जावे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान होता है उस सबका लोप हो जावेगा। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं जो वस्तु वर्त्तमान हैं उसको इन्द्रिय ग्रहण करते हैं अविद्यमान को नहीं। यदि यह माना जावेगा कि विद्यमान कोई वस्तु नहीं तो प्रत्यक्ष का कारण और प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु और प्रत्यक्ष ज्ञान इन सबका विलोप हो जायेगा और प्रत्यक्ष के सिद्ध न होने से अनुमानादि प्रमाण भी जो प्रत्यक्ष से सिद्ध होते हैं असिद्ध हो जायेंगे और फिर सब प्रमाणों के विलोप होने से किसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान न हो सकेगा। इस लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण और उससे होने वाले ज्ञान की सिद्धि के लिए भी वर्त्तमान काल को अवश्य मानना पड़ेगा। वर्त्तमान काल कहीं तो वस्तु की सत्ता से जाना जाता है और कहीं क्रिया से उपलक्षित होता है जैसे किसी वस्तु के उपस्थित होने से उसकी सत्ता वर्त्तमान काल को बतलाती है और क्रिया में जैसे लिखता है, बोलता है, इससे भी

वर्त्तमान काल में लिखना और बोलना सिद्ध होता है और क्रिया के सम्पादन में और जितने साधन हैं उनको क्रियासन्तान कहते हैं। जैसे लिखने के वास्ते पत्र, लेखनी और दावात आदि ये सब क्रिया के अङ्ग हैं।

प्रश्न—वर्त्तमान काल की सीमा क्या है?

उत्तर—जबतक कार्य आरम्भ होकर क्रिया सन्तान की प्रवृत्ति रहती है अर्थात् उस कार्य के अवसान तक वर्त्तमान काल कहाता है। अब सूत्रकार भूत और भविष्य का लक्षण कहते हैं।

कृताताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथाग्रहणम् ॥ ४१ ॥ [उ० पक्ष]

जब कोई कार्य आरम्भ होकर समाप्त हो जावे, उसको भूतकाल कहते हैं, उसमें क्योंकि क्रिया की समाप्ति हो चुकी है, इसलिए उसको कृतता कहते हैं। जैसे कहा जावे कि 'देवदत्त पुस्तक लिख चुका' यहाँ लिखना क्रिया की समाप्ति हो चुकी,इस भूत काल को सूत्रकार ने कृतता शब्द से निर्देश किया है। जब कोई कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ न कोई क्रिया सन्तान ही उपभोग में लाये गए हैं, किन्तु उस कार्य के आरम्भ करने का मन में सङ्कल्प है वह अनागत या भविष्य काल है उसमें क्योंकि अभी क्रिया का आरम्भ ही नहीं हुआ, इसलिए उसको कर्त्तव्यता के शब्द से निर्देश किया है। अर्थात् जो किया जायगा जैसे कहा जावे कि 'देवदत्त पुस्तक लिखेगा' यहाँ अभी लिखना क्रिया का आरम्भ नहीं हुआ। इन दोनों के अतिरिक्त जब कोई कार्य आरम्भ तो हो गया है परन्तु अभी समाप्त नहीं हुआ है यह न तो भूतकाल ही है न भविष्य काल किन्तु इसको वर्त्तमान काल कहते हैं। इसका न तो कृतता के शब्द से निर्देश किया जा सकता है, और न कर्त्तव्यता से। किन्तु इसे क्रियमाण शब्द से निर्देश किया जायगा। इस क्रियमाण को न तो भूतकाल में सन्निविष्ट कर सकते हैं क्योंकि अभी क्रिया की समाप्ति नहीं हुई और न भविष्यकाल में इसकी गणना हो सकती है।

क्योंकि कार्यारम्भ होगया है। अतएव भूत और भविष्य इन दोनों से व्यतिरिक्त यह तीसरा वर्त्तमान काल है, जिससे भूत और भविष्य का मानने वाला कभी इन्कार नहीं कर सकता। अनुमान की परीक्षा हो चुकी, उसी के विषय में कालविवेचन भी किया गया अब उपमान की परीक्षा आरम्भ करते हैं प्रथम सूत्र में पूर्वपक्ष का आश्रय लेकर उपमान का खंडन किया है—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥४२॥(पूर्वपक्ष)

वादी कहता है, तुम जो उपमान प्रमाण मानते हो,उसकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उपमान के लक्षण में तुमने यह बतलाया था, कि साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना उपमान है। अब साधर्म्य का होना तीन दशाओं में हो सकता है। प्रथम तो अत्यन्त साधर्म्य अर्थात् समस्त लक्षणों का मिलजाना। यह तो उपमान कहला ही नहीं सकता। जैसे कोई कहे गौ के सदृश गो होती है, इसको कोई उपमान नहीं कह सकता। दूसरे बहुत से लक्षणों के मिलने से भी उपमान नहीं होता। जैसे गौ के चार पैर हैं, भैंस के भी चार पैर हैं, गौ के सींग हैं, भैंस के भी सींग हैं। गौ के पूंछ है, भैंस के भी पूंछ है। इस प्रकार अनेक धर्मों के मिलने से गौ की उपमा भैंस से नहीं दी जा सकती। तीसरे किसी एक धर्म के मिलने से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की किसी दूसरी वस्तु के साथ किसी न किसी धर्म में समानता होती है जैसे सरसों का दाना मूर्तिमान है, हिमालय पहाड़ भी मूर्तिमान है. केवल मूर्तिमान होने से ये दोनों उपमेय और उपमान नहीं हो सकते। अतएव न तो सब धर्मों के मिलने से न अनेक धर्मों के मिलने से और न किसी एक धर्म के मिलने से उपमान की सिद्धि होती है। अतः उपमान को प्रमाण मानना ठीक नहीं। इसका सूत्रकार देते हैं—

प्रसिद्धसाम्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४३॥

(उ० पक्ष)

उपमान के लिये विशेष धर्मों का मिलना आवश्यक है, क्योंकि हमने उपमान के लक्षण, में प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य का सिद्ध करने को उपमान कहा था। अत्यन्त अधिक धर्म और एक धर्म की समता को उपमान नहीं कहा, इसलिए उक्त सूत्र में कहे हुए दोषाप्रसिद्ध साधर्म्य से सिद्ध होने वाले उपमान नहीं लग सकते। इस पर वादी फिर आक्षेप करता है–

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥४४॥ (पूर्वपक्ष)

इस प्रकार प्रत्यक्षसे जो अप्रत्यक्ष का सिद्ध होना कहागया है वह अनुमान के अन्तर्गत है। जैसे धूम को प्रत्यक्ष देख कर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान हो जाता है ऐसे ही प्रत्यक्ष गो को देखकर अप्रत्यक्ष नील गाय का अनुमान हो सकता है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष के मालूम करने में अनुमान और उपमान में कुछ भी भेद नहीं ज्ञात होता। जब अनुमान और उपमान में कुछ भेद नहीं तब अनुमान की उपस्थिति में उपमान का मानना निरर्थक है। इसका उत्तर दिया जाता है–

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ॥४५॥

वादी का यह आक्षेप निर्मूल है। क्योंकि जब तक उपमान ज्ञान वाला व्यक्ति नील गाय को प्रत्यक्ष न देख ले, तब तक केवल गाय के देखने से वह अप्रत्यक्ष नील गाय को नहीं जान सकता। किन्तु धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करने वाला तुरन्त ही यह कह सकता है कि वहाँ अग्नि है। इस कारण स्पष्ट है कि धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाता है, परन्तु ऐसा सम्बन्ध गो और नील गाय में नहीं है कि गो के देखने से नील गाय का ज्ञान हो जावे। इसलिए गो के प्रत्यक्ष से नील गाय का अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु उसको प्रत्यक्ष देखने से उसका ज्ञान होता है। अतः यह आक्षेप कि उपमान में प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि अनुमान में साध्य और साधन अग्नि और (धूम) दोनों का ज्ञान होता है. किन्तु

उपमान में साथ दोनों सिद्ध नहीं होती और अनुमान अपने लिए होता है और उपमान दूसरे के लिए। जैसे देवदत्त ने धूम को देखा और उसे अग्नि का ज्ञान हो गया। उपमान सुनने वाले को उपमेय का ज्ञान होता है, किन्तु अनुमान से स्वयं अनुभव करने वालों को ज्ञान होता है।

प्रश्न—अनुमान और उपमान में क्या भेद है?

उत्तर—अनुमान तो व्याप्ति अर्थात् दो पदार्थों के सम्बन्ध से होता है किन्तु उपमान विशेष धर्म के साहश्य से होता है। अनुमान का फल अपने को मिलता है और उपमान का फल दूसरे को। उपमान की सिद्धि में और भी हेतु दिया जाता है।

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥४६॥ (उ०पक्ष)

उपमान परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान के बिना किसी विशेष धर्म के अनुकूल होने से होजाता है और अनुमान के लिए व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है। जैसा देवदत्त है, वैसा ही विष्णुमित्र भी है यह साहश्य ज्ञान संसार से देखा जाता है, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए इसके लिए एक तीसरा उपमान प्रमाण माना गया है। उपमान की परीक्षा समाप्त हुई, अब प्रमाण की परीक्षा आरम्भ की जाती है। पहले उस पर वादी आक्षेप करता है।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥४७॥ (पूर्वपक्ष)

शब्द अनुमान से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार अनुमेय के सम्बन्ध ज्ञान से अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमेय है। जैसे एक नियत चिन्ह धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही निश्चित शब्द अग्नि या वन्हि को सुनकर आग का ज्ञान हो जाता है इसलिए अनुमान और शब्द में कोई भेद मालूम नहीं

होता, शब्द को एक पृथक् प्रमाण मानना व्यर्थ है।

प्र०—क्या शब्द और अनुमान दो पृथक पदार्थ नहीं ?

उ०—जब कि शब्द और अनुमान से एकसा ज्ञान होता है और उसका कारण भी व्याप्ति ज्ञान एक ही है तो फिर दोनों को एक ही प्रमाण क्यों न माना जावे।

प्र०—क्या शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उसी प्रकार का है, जैसा कि लिङ्ग और लिङ्गी का ?

उ०—किसी अर्थ को प्रकट करने के लिए जब कोई शब्द कहा जाता है तो वह उसी अर्थ को प्रकट करता है जिसके लिए कहा गया है, ततिरिक्त व तद्भिन्न अर्थ को नहीं। इसी प्रकार लिङ्ग भी अपने लिंगी के सिवाय और किसी वस्तु को नहीं बतलाता अतएव इन दोनों को एक ही मानना चाहिए। सूत्रकार पूर्वपक्ष की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं—

उपलब्धेरद्विवत्तित्वात् ॥४८॥

यदि शब्द अनुमान से भिन्न दूसरा प्रमाण होता, तो उसकी प्रवृत्ति अनुमान से भिन्न प्रकार की होती, किन्तु इन दोनों की प्रवृत्ति एक ही प्रकार की देखने में आती है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्यक्ष धूम को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है ऐसे ही प्रत्यक्ष शब्द से अप्रत्यक्ष अर्थ जाना जाता है, इसलिए जो ज्ञान शब्द से होता है उसको भी अनुमान ही समझना चाहिए। इसी की पुष्टि में एक हेतु और दिया जाता है—

सम्बन्धच्च ॥ ४९ ॥ (पू० पक्ष)

जैसा लिंग लिंगी का सम्बन्ध अनुमान में देखा जाता है ऐसा ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ का भी पाया जाता है, अतएव शब्द अनुमान से भिन्न और कोई प्रमाण नहीं। अब इन शंकाओं का उत्तर सूत्रकार देते हैं:—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः ॥५०॥ (उ०पक्ष)

शब्द और अनुमान एक नहीं, क्योंकि अनुमान व्याप्ति ज्ञान से प्रमाण माना जाता है और शब्द आप्तोपदेश होने से। आप्तोपदेश पर विश्वास का होना ही शब्द प्रमाण है, किन्तु अनुमान में किसी के विश्वास या भरोसे से काम नहीं लिया जाता उसमें प्रत्यक्ष का कारण लिंग और लिङ्गी तथा उनके सम्बन्ध का ज्ञान है। परन्तु शब्द प्रमाण में प्रत्यक्ष का कारण केवल शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही नहीं है, किन्तु मुख्य कारण आप्तोपदेश पर विश्वास है। इसलिए शब्द प्रमाण अनुमान के अंतर्गत नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को मानकर जो हेतु दिया था, अब उसका खण्डन करते हैं—

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥५१॥

वादी ने जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बतलाया है, वह प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार धूम को देखकर वहाँ पर जाकर अग्नि को प्रत्यक्ष कर सकते हैं, इस प्रकार शब्द को देखकर उसके अर्थ का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—यद्यपि शब्द को देखकर उसके अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तथापि शब्द के सुनते ही उसका अर्थ ज्ञान में भाषित होने लगता है। जैसे किसी मनुष्य से यह कहा जावे कि "तुम्हारा पुत्र मर गया" इसके सुनते ही आकृति बिगड़ जाती है। इससे जाना जाता है कि शब्द और अर्थ का नियत सम्बन्ध है।

उ०—तुम्हारे इस कथन से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि या तो यह मानो कि शब्द में अर्थ मौजूद है या अर्थ के भीतर शब्द। और जिसके पुत्र न हो उसको यह कह देने से कि 'तुम्हारा पुत्र मर गया' कुछ भी शोक न होगा इसलिए जब तक यह ज्ञात न होजावे कि शब्द और अर्थ का किस प्रकार का सम्बन्ध है, शब्द अनुमान नहीं हो सकता—

प्रश्न—हम शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को ऐसा मानते हैं कि शब्द के कहते ही उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इसका खण्डन सूत्रकार करते हैं।

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥५२॥

यदि यह माना जावे कि शब्द के भीतर ही उसका अर्थ रहता है, तो जो मिसरी का नाम ले उसका मुँह मीठा हो जाना चाहिये और जो अन्न शब्द का उच्चारण करे उसका पेट भर जाना चाहिए और अग्नि शब्द कहते ही मुँह जल जाना चाहिये और खङ्ग का नाम लेते ही मुँह कट जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे जाना जाता है कि शब्द और अर्थ में ऐसा सम्बन्ध नहीं कि शब्द कहते ही अर्थ का ज्ञान हो जावे और न ही शब्द के भीतर अर्थ रहता है। यदि यह कहा जावे कि अर्थ के अन्दर शब्द रहता है तो काष्ठादि में अर्थ के रहने का कोई स्थान नहीं इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना ठीक नहीं।

प्रश्न—यदि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नहीं तो शब्द के कहने से अर्थ का ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उ०—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु कल्पित या पारिभाषिक है, जिस देश के निवासियों ने जिस शब्द का अपनी भाषा में जिस अर्थ के लिए नियत कर लिया है उसको उस शब्द के सुनने से उसी अर्थ का बोध होता है। मानो शब्द उनकी नियत की हुई परिभाषा को स्मरण करा सकता है, जैसे 'गदहा' शब्द संस्कृत में औषधि या वैद्य का वाचक है, परन्तु हिन्दी भाषा में 'गदहा' खर को कहते हैं। यदि संस्कृत में इस शब्द से किसी को पुकारा जावेगा तो वह अपना गौरव समझ कर प्रसन्न होगा। परन्तु यदि हिंदी भाषी से यह शब्द कह दिया जाय तो केवल इसको अपना मानिहानि ही नहीं समझेगा किंतु लड़ाई लड़ने पर उद्यत होजायगा।

फिर शंका करते हैं-

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥ [पू० पक्ष]

शब्द का जो अर्थ नियत है, अर्थात् जिससे शब्द का जो अर्थ नियत है, उसका वही अर्थ लिया जाता है, अन्य नहीं। जिससे स्पष्ट जाना जाता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। यदि शब्द और अर्थ का कुछ भी सम्बन्ध न होता तो घट शब्द के कहने से केवल घड़े का बोध न होता, किन्तु अन्य पदार्थों का भी होता। अतः शब्द और अर्थ की व्यवस्थित होने से इन दोनों का संबन्ध अनिवार्य है। इसका उत्तर देते हैं।

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५४ ॥ (उ० पक्ष)

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु देशकालानुसार कल्पित है अर्थात् जहाँ जिस शब्द के जो अर्थ लेने चाहियें, वहाँ वही लिए जाते हैं। एक भाषा में एक शब्द का कुछ और अर्थ है, दूसरी भाषा में उसका अर्थ बिल्कुल उसके विपरीत है इससे विदित होता है कि शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भिन्न२ दशाओं में भिन्न २ प्रकार का होगा। जैसे तीर्थ शब्द पढ़ने वालों की परिभाषा में गुरू का वाचक है, वाममार्गियों की बोल चाल में वही मद्य का पर्याय है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध केवल औपचारिक है जो मनुष्य उस नियत परिभाषा से अनभिज्ञ हैं, वह बार बार उस शब्द के सुनने से भी उसके अर्थ को नहीं जान सकता। इस पर और भी युक्ति देते हैं-

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥ [उ० पक्ष]

जाति विशेष में भी इसका कोई नियम नहीं है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक होगा। जैसे सूर्य का प्रकाश सब जातियों और व्यक्तियों के लिए एकसा है, उसमें देशकृत या कालाकृत कोई भेद नहीं, इस प्रकार शब्द समस्त जातियों में तो क्या एक जाति में भी

समान रूप से व्यापक नहीं है। भाषा प्रवर्त्तकों ने जो परिभाषायें नियत कर दी हैं वे अपनी अपनी सीमा तक प्रचलित हैं उनके बाहर उनको कोई जानता भी नहीं। अतएव शब्द अर्थ का सम्बन्ध एकदेशीय तथा कल्पित होने से नित्य नहीं हो सकता और जब नित्य नहीं है तब वह केवल आप्तोदेश होने से प्रामाणिक हो सकता है। अब वादी शब्द की अप्रामाणिकता में और भी हेतु देता है।

तदप्रमाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥५६॥

(पूर्वपक्ष)

अमृन (मिथ्या) व्याघात (विरोध) और पुनरुक्त। एक ही बात को बार २ कहना) इन तीनों दोषों से युक्त होने के कारण शब्द (आप्तोपदेश) अप्रमाण है जैसे शास्त्र में लिखा है 'पुत्र के चाहने वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करे या स्वर्ग के चाहने वाला यज्ञ करे।' बहुत से मनुष्य पुत्रेष्टि करने पर भी पुत्रवान नहीं होते। इस प्रकार यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति भी संदिग्ध है। बहुत से मनुष्य नित्य यज्ञ करते हैं, जब उनको यहीं पर स्वर्ग नहीं मिलता तो परलोक में स्वर्ग प्राप्ति कल्पित ही समझनी चाहिए। कहीं पर लिखा है कि सूर्योदय के पहले हवन करना चाहिए, कहीं सूर्योदय के पश्चात् हवन करना लिखा है। इस प्रकार शास्त्रों में परस्पर विरोध पाया जाता है। और पुनरुक्ति दोष (एक ही बात को बार २ कहना) तो प्राचीन ग्रन्थों में भरा पड़ा है, जो ग्रंथ जितना प्राचीन है उतना ही उसमें पुनरुक्ति दोष अधिकता से विद्यमान है। शब्द में प्रायः यह दोष पाये जाते हैं, इसलिए वह प्रमाण नहीं हो सकता। अगले सूत्रों में क्रम से इनका उत्तर दिया गया है। प्रथम अनृत दोष का परिहार करते हैं—

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥५७॥ (उ० पक्ष)

वादी ने जो शब्द प्रमाण के खण्डन में अनृत (मिथ्यावादी)

का दोष आरोपित किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म का फल केवल उपदेश पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु कर्म; कर्त्ता और साधन इन तीनों से उसका सम्बन्ध है; यदि इन तीनों में से कोई विगुण (अनुपयोगी) होगा तो निर्दिष्ट फल सिद्धि में अवश्य भेद पड़ेगा । जैसे किसी रोग के लिए कोई औषधि है; वैद्य ने उसका ठीक निदान न कर सकने से दूसरी औषधि दे दी और उससे रोग दूर न हुआ या और बढ़ गया तो इसमें औषधि का क्या दोष है ? इसी प्रकार जिस रीति से या जिन साधनों से औषधि का प्रयोग उस रोग में होना चाहिए उस प्रकार नहीं किया गया तब भी उस औषधि को या उसके प्रयोग को निष्फल नहीं कहा जा सकता। यही दशा पुत्रेष्टि यज्ञ की भी हो सकती है अर्थात् यज्ञकर्त्ताओं के दोष से अथवा यथाविधि यज्ञ के न होने से पुत्रोत्पत्ति न होने पर वेद का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

प्र०—यदि उपदेष्टा ठीक उपदेश करे तो उसके अनुसार काम करने वाला अवश्य कृतकार्य होना चाहिये। यदि उपदेशानुसार काम करने पर भी यथोक्त फलसिद्धि नहीं होती तो वह उपदेश अवश्य मिथ्या है।

उ०—प्रत्येक काम ज्ञान और क्रिया दो बातों से सम्बन्ध रखता है; जब तक यह दोनों ठीक और एक-दूसरे के अनुकूल नहीं तब तक अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ज्ञान में त्रुटि है तो कर्म ठीक हो ही नहीं सकता। यदि कर्म में त्रुटि रह जावे तो केवल ज्ञान से दृष्टार्थ की सिद्धि नहीं होगी। यही कारण है कि प्रायः वैज्ञानिक कर्म सर्वसाधारण की समझ में नहीं आते, इसलिए आप्तोक्त शब्द में मिथ्यावाद का दोष लगाना ठीक नहीं। अब व्याघात दोष का परिहार करते हैं।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५८ ॥ (उ० पक्ष)

जो दृष्टांत व्याघात दोष के लिए दिया गया है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ काल का भेद है। अग्निहोत्र के दो काल हैं। प्रातः काल का अग्निहोत्र सूर्योदय से पहले किया जाता है और सायंकाल का

अग्निहोत्र सूर्यास्त से पहले होना चाहिये। एक एक काल के विषय में जो भिन्न २ सम्मित हों, अर्थात् कहीं प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्योदय से पहले बतलाया गया हो और कहीं पश्चात तो व्याघात (परस्पर—विरोध) हो सकता था किन्तु दो भिन्न २ कालों के विषय में दो सम्मित्तियों का होना व्याघात नहीं है। अब पुनरुक्ति का परिहार करते हैं।

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ५६ ॥ (उत्तर पक्ष)

जहां किसी प्रयोजन से एक बात दो बार कही जावे, वहां पुनरुक्ति दोष नहीं होता, किन्तु अनुवाद कहलाता है। अनुवाद किसी प्रयोजन से किया जाता है, इसलिए वह दोष नहीं। वेदों में जहां किसी मन्त्र या उसके किसी पद को दो बार या कई बार उच्चारण किया है, साधारण लोगों को चाहे उसमें पुनरुक्ति का भ्रम हो, किन्तु सप्रयोजन होने से अर्थज्ञ लोगों की दृष्टि में वह अनुवाद है। अनुवाद के प्रमाण होने में दूसरा हेतु देते हैं:—

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६० ॥ (उत्तरपक्ष)

विद्वानों ने जो वाक्य के वक्ष्यमाण तीन तीन विभाग किए हैं, उनसे भी अनुवाद की सार्थकता सिद्ध होती है। वे विभाग निम्नलिखित हैं:—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६१ ॥ (उत्तरपक्ष)

आप्तोपदेश में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं, जिनके नाम यह हैं, (१) विधि वाक्य (२) अर्थवाद वाक्य (३) अनुवादक वाक्य इन के लक्षण आगे सूत्रकार स्वयं करते हैं।

विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥ (उत्तरपक्ष)

जिस वाक्य में किसी काम के करने की प्रेरणा वा आज्ञा पाई जावे, उसे विधि वाक्य कहते हैं जैसे कहा जाय कि यज्ञ करो दान दो विद्या पढ़ो, इत्यादि, इसका नाम विधि वाक्य है।

प्रश्न-क्या विधि में काम करने का ही उपदेश होता है या छोड़ने का भी, क्योंकि प्रायः शास्त्रों में झूंठ मत बोलो, हिंसा मत करो इत्यादि निषेधमुख बाक्य भी दीखते हैं।

उत्तर-विधि दो प्रकार का है एक उपादेय का ग्रहण दूसरे हेय का त्याग। इसलिये निषेध का तात्पर्य को भी विधि के अन्तर्गत मानकर यहां उसका प्रथक ग्रहण नहीं किया क्योंकि ये दोनों चाहे कहने में भिन्न २ मालूम हों परन्तु तात्पर्य इनका एक ही है, जो प्रयोजन सच बोलने का है वही झूंठ न बोलने का भी है। अब अर्थवाद का लक्षण कहते हैं—

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥६३॥

(उ० पक्ष)

अर्थवाद चार प्रकार का होता है, जिनके नाम ये हैं १-स्तुति २-निन्दा ३—परकृति ४-पुराकल्प।

प्र०—स्तुति किसे कहते हैं ?

उ०—स्तुति उसको कहते हैं कि जिस वाक्य के सुनने से श्रोता के हृदय में उस काम के लिये प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न हो जावे जैसे कहा जावे कि जो विद्या पढ़ता है वह यशस्वी होता है शत्रु भी उसका आदर करते हैं। इसलिये मनुष्य को विद्या पढ़नी चाहिये।

प्र०-निन्दा किसे कहते हैं ?

उ०—निन्दा उसे कहते हैं जो बुरे काम के दोष और अनिष्ट परिमाणों को वर्णन करके श्रोता को उस काम से विमुख और निवृत करदे। यथा जो मूर्ख रहता है, उसी की बड़ी दुर्गति होती है, उसके अपने भी उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखते। इसलिये मनुष्य को मर्ख कभी नहीं रहना चाहिये।

प्र०-परकृति किसको कहते हैं ?

उ०—दूसरे के किये हुए अच्छे या बुरे कर्मों का दृष्टांत देकर और

उनकी स्तुति एवं निन्दा करके अच्छे कर्म में प्रवृति दिलाना और बुरे कर्म से हटाना परकृति कहलाती है। जैसे किसी ने कहा कि राजा युधिष्ठिर सच बोलने के कारण परम धर्मात्मा थे। किन्तु एक बार झूंठ बोलने से थोड़ी देर के लिये उनको भी नरक जाना पड़ा।

प्र०—पुराकल्प किसे कहते हैं ?

उ०—जिन कामों या उपदेशों को प्राचीनकालीन विद्वानों ने किया या कहा हो या जो शिष्ट परम्परा हो, उसको इतिहास और शास्त्रों से निश्चय करके तदनुसार आचरण करना पुराकल्प कहलाता है, जैसे कहा जावे कि इसीलिये पहले ब्राह्मणों ने विद्या पढ़ना अपना धर्म समझा था कि बिना उसके और किसी उपाय से भी आत्मा को शांति नहीं हो सकती। अब तीसरे अनुवाद का लक्षण कहते हैं—

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥६४॥ (उ० पक्ष)

जो बात एक बार कहदी गई उसका पुनः कहना अनुवचन कहलाता है, जिसका विधि से विधान किया गया है उसका अनुवचन अनुवाद कहलाता है। अनुवाद दो प्रकार का है (१) शब्दानुवाद (२) अर्थानुवाद। जहाँ विधि का अनुवाद किया जावे वह शब्दानुवाद है और जहाँ विहित का अनुवाद हो- उसे अर्थानुवाद कहते हैं। जिस प्रकार वेद में तीन प्रकार के वाक्य हैं, ऐसे ही लोक में भी तीन प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं। जैसे कोई स्वामी अपने भृत्य से कहे कि स्नान करके भोजन बनाओ' यह विधि वाक्य है। यदि कहा जावे कि सात्विक भोजन से आयुः तेज, स्वास्थ्य और स्मरण शक्ति बढ़ती है तो वाक्य अर्थवाद कहलायेगा। यदि स्वामी भृत्य से कहे कि पकाओ; पकाओ अर्थात् शीघ्र पकाओ और सब काम छोड़कर पहले यह काम करो यह अनुवाद है। जहां किसी शब्द या वाक्य के बार २ कहने से कोई अर्थ निकलता है वह अनुवाद है और जहां निरर्थक बार २ उन्हीं शब्दों या वाक्यों का उच्चारण किया जाता है उसको

पुनरुक्ति कहते हैं, बस यही दोनों में भेद है। वादी फिर आक्षेप करता है—

नानुवादपुरुक्तयोर्विशेषःशब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥६५॥ [पूर्वपक्ष]

प्रश्न—अनुवाद और पुनरुक्ति में कोई विशेष भेद नहीं दीखता क्योंकि अभ्यास (पुनः २ शब्दों की आवृत्ति) दोनों में बराबर पाई जाती है। इसलिए अनुवाद को पुनरुक्ति से पृथक ठहराकर प्रमाण मानना ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं—

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥६६॥[उत्तरपक्ष]

उत्तर—यद्यपि शब्दों का पुनः २ आवृत्ति दोनों में बराबर है, तथापि अनुवाद और पुनरुक्ति में बहुत अन्तर है, क्योंकि शब्द या वाक्य किसी अर्थ का प्रकाश करने के लिए कहा जाता है सो अनुवाद में तो उसके कथन की सार्थकता है, पुनरुक्ति में नहीं। जैसे कोई कहता है कि "जाओ, जाओ" यहां दो बार कहने का स्पष्ट अर्थ है कि 'शीघ्र जाओ' इसी प्रकार यदि किसी पुस्तक में किसी विशेष अर्थ की प्रति-पत्ति के लिए कोई शब्द या वाक्य दो बार कई बार उच्चारण किया गया है तो वह विशेष अर्थ का प्रकाशक होने से पुनरुक्ति नहीं कहलायेगा और प्रमाण माना जायगा। हां, जिस पुस्तक में निरर्थक एक ही बात बार २ कही गई हो और उससे किसी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती वह पुनरुक्त कहलायेगी।

प्रश्न—कई मन्त्र ऐसे हैं कि जो चारों वेदों में बराबर आते हैं और कई ऐसे भी हैं जो एक ही वेद में कई बार आते हैं। इसलिए पुन-रुक्ति दोष होने से वेद अप्रमाण हैं ?

उत्तर—प्रथम तो चारों वेद के प्रकरण और उद्देश्य अलग २ है, अपने २ प्रकरण और उद्देश्य के अनुसार वे मन्त्र अपने २ अर्थ और अभिधेय को प्रकट करते हैं। दूसरे वेदों में स्वर भेद भी अर्थ-भेद का कारण है। एक ही शब्द या पद स्वरभेद के कारण भिन्न २

अर्थों का वाचक हो जाता है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'इन्द्रशत्रु' शब्द का उदाहरण दिया है, जो केवल स्वरभेद होने से भिन्न २ अर्थों का प्रकाश करता है। इसलिए वेदों में पुनरुक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती। पुनः इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रमाण्यात् ॥६७॥

(उत्तरपक्ष)

मन्त्र जो संहिता है, वह आयुर्वेद अर्थात वैद्यक शास्त्र के तुल्य प्रमाण हैं। ×जिस प्रकार औषधियों के प्रयोग में उक्त तीनों दोष मालूम होते हैं किन्तु आयुर्वेद को अप्रमाण नहीं कह सकते। जैसे एक वैद्य ने किसी रोगी को कोई औषधि दी और उससे उसका रोग दूर न हुआ तो इससे उस औषधि का प्रभाव नहीं बदल जाता किन्तु दो कारणों का अनुमान किया जाता है। या तो औषधि बनाने वाले ने उसको ठीक रीति पर नहीं बनाया वा चिकित्सक की भूल है, वह उसका अन्यथा प्रयोग करता है। इसी प्रकार वेद का प्रामाण्य है, जहाँ कहीं वेद के अर्थ या क्रिया में कुछ सन्देह या भेद सा मालूम पड़ता है, वहां या तो कर्त्ता में कोई दोष है, या उस कर्म में, या उनके अर्थों में।

× इस सूत्र का अर्थ जो श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती जी ने किया है, हम उससे सहमत नहीं हैं, कारण यह है कि सूत्र में शब्द प्रमाण तो—जिसमें मुख्य आप्तोक्त होने से सब भाष्यकारों ने वेद का ग्रहण किया है साध्य है 'आप्तप्रमाण्यात्' आप्तोक्त होना यह हेतु है, जिसको अपने उत्तर में स्वामी जी भी स्वीकार करते हैं। 'मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवत्' मन्त्र और आयुर्वेद इन दोनों के प्रमाण समान ये दो दृष्टांत हैं अर्थात् जिस प्रकार मन्त्र या और आयुर्वेद का प्रामाण्य सिद्ध है, उसी प्रकार शब्द का भी, जिस का 'तद्' शब्द से परामर्श किया है, और जिस में वेद मुख्य हैं, प्रमाण मानना चाहिये। स्वामी जी मन्त्र शब्द से वेद का ग्रहण करते हुए उसको साध्य मान कर आयुर्वेद का

प्र०—कोई इस सूत्र में आये मन्त्र शब्द का अर्थ भूत और बिच्छू आदि के झाड़ने का करते हैं, क्या वह ठीक नहीं और तुमने जो मन्त्र का अर्थ 'वेद' किया है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—भूत आदि भोले या डरपोक मनुष्यों की कल्पनायें हैं और बिच्छू आदि की चिकित्सा भी केवल शब्द से नहीं हो सकती प्रायः इसमें छल किया जाता है, इसलिये मन्त्र शब्द से यह तात्पर्य लेना ठीक नहीं, क्योंकि कात्यायन आदि ऋषियों ने मन्त्र नाम दवा का माना है ।

प्र०—वेद जब कि साध्य हैं तब उन्हीं को प्रमाण मानकर हेतु में रखना साध्यसम हेत्वाभास है क्योंकि साध्य वस्तु का न तो प्रमाण दृष्टांत देते हैं जो कि सर्वथा सूत्र के आशय और भाष्यकारों की सम्मति के विरुद्ध है क्योकि जब वेद तो शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होने से साध्य था ही और स्वामीजी भी इससे पिछले सूत्रों में उसका साध्य होना स्पष्ट स्वीकार कर चुके हैं, तब उसी साध्य की सिद्धि में उसी का दृष्टांत देना अपने कन्धे पर आप चढ़ना है ।

इसलिये मन्त्र शब्द का जो दृष्टांत दिया गया है वेद संहिता अर्थ करना किसी तरह ठीक नहीं हो सकता । मालूम होता है स्वामी जी ने बिच्छू सांप और भूतों से घबरा कर ऐसा अर्थ किया है यद्यपि सद्विचार और सदुपयोग से (जो मन्त्र शब्द का वाच्यार्थ हैं) इनका निराकरण भी हो सकता है, तथापि स्वामी जी को यह अमन्तव्य ही था तो मन्त्र शब्द के बहुत से अर्थ हो सकते थे, जैसा कि पं० तुलसीराम जी स्वामी ने अपने न्यायदर्शन के अनुवाद में मन्त्र शब्द का अर्थ जप किया और जप या अभ्यास के स्मृति रूप फल से कोई इन्कार नहीं कर सकता तथा पं० आर्य्यमुनि जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालिज लाहौर ने इसी सूत्र में मन्त्र शब्द का अर्थ सत्य विचार ना लिया है, शब्द

विचार फल भी सर्वसम्मत ही हो सकता है और न उसका दृष्टांत ही दिया जा सकता है।

उ०—ऋषि ने वेद को हेतु या दृष्टांत में नहीं रक्खा किन्तु आयुर्वेद को दृष्टांत में रख कर साध्य वेद को प्रमाण सिद्ध किया है और सर्वनाश का उपदेश होना यह हेतु दिया है।

प्र०—प्रकरण तो शब्द प्रमाण का था; उसमें वेद का प्रसङ्ग क्यों छेड़ दिया।

उ०—ऋषि के वेद को मन्त्र कहने का आशय भी यही है कि मन्त्र तो आयुर्वेद के समान स्वतः प्रमाण है; जिस प्रकार किसी औषधि के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए सिवाय उस औषधि के किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं; इसी प्रकार वेद का प्रमाण तो स्वयमेव है, शेष शब्द मात्रा का प्रमाण उसके वक्ता या लेखक की योग्यता पर निर्भर है। यदि वक्ता आप्त हैं तो उनकी उक्ति प्रमाण होगी और यदि अनाप्त होगा तो अप्रमाण।

न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय का

॥ पहला आह्निक समाप्त ॥

दूसरे अध्याय का द्वितीय आन्हिक

प्रमाणों की सामान्य परीक्षा के अनन्तर अब विशेष परीक्षा आरम्भ करते हैं। प्रथम वादी आक्षेप करता है कि चार ही प्रमाण क्यों माने जावें, अधिक क्यों नहीं?

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति सम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

चार ही प्रमाण मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये चार प्रमाण और भी हैं।

प्रश्न—ऐतिह्य किसे कहते हैं?

उत्तर—जिन बातों को परम्परा से सुनते चले आये हैं, या इतिहास ग्रन्थों में जिसका लेख मिलता है कि अमुक पुरुष हुआ और उसने ऐसा किया, इत्यादि पुरावृत्तों को इतिहास या ऐतिह्य कहते हैं।

प्रश्न—अर्थापत्ति का क्या लक्षण है?

उत्तर—एक बात के कहने से जो दूसरी बात अर्थ से स्वयं जानी जाती है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं जैसे कोई कहे सत्य भाषण विश्वास का कारण है, इस एक बात के कहने से दूसरी बात—कि मिथ्या भाषण अविश्वास का कारण है—स्वयं सिद्ध होगई।

प्रश्न—सम्भव किसे कहते हैं?

उत्तर—जहां एक वस्तु बिना दूसरी वस्तु के न ठहर सके, वहाँ एक के ग्रहण से दूसरे का ज्ञान होना सम्भव कहलाता है, जैसे श्रद्धा से प्रीति और ज्ञान से मुक्ति का होना सम्भव है।

प्रश्न—अभाव का लक्षण क्या है?

उत्तर—जहाँ कारण न हो, वहाँ कार्य भी न होगा, इसको अभाव कहते हैं जैसे मोह के अभाव में शोक और लोभ के अभाव में निन्दा भी न होगी। ऐतिह्यादि इन चार प्रमाणों के सिद्ध होने से आठ प्रमाण

होते हैं, इसलिये प्रत्यक्षादि केवल चार ही प्रमाणों का मानना ठीक नहीं। सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं:—

शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥ (उत्तरपक्ष)

प्रमाण चार ही हैं क्योंकि ऐतिह्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत है और अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये तीनों अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—शब्द प्रमाण में ऐतिह्य का सन्निवेश कैसे करते हैं?

उत्तर—जैसे आप्तोपदिष्ट शब्द प्रमाण है, वैसे ही आप्त का लिखा हुआ इतिहास भी प्रमाण माना जायगा अनाप्त का नहीं, जो कि आप्तोदेशरूप लक्षण दोनों में समान है, इसलिये ये दोनों एक ही है।

प्रश्न—अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये तीनों अनुमान में किस तरह समाते है?

उत्तर—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के पश्चात उस के द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान होना अनुमान कहाता है एक वाक्य के अर्थो का बोध होने पर दूसरी वस्तु का, जिससे उसका संबंध है, बोध होजाना अर्थापत्ति कहलाता है सो अर्थापत्ति में भी इसी अनुमान से काम लिया जाता है अर्थात् जो सत्य नहीं बोलता, उसके विषय में यह अनुमान किया जायगा कि वह अवश्य मिथ्या बोलता होगा। दूसरा सम्भव भी अनुमान के अन्तर्गत है, क्योंकि एक वस्तु के ग्रहण से दूसरी का अनुमान स्पष्ट है, श्रद्धा को देखकर प्रीति और ज्ञान को देखकर मुक्ति का अनुमान किया जायगा। तीसरा अभाव भी अनुमान से विलक्षण नहीं। क्योंकि मोह के अभाव में शोक और लोभ के अभाव में निन्दा की सम्भावना भी नहीं हो सकती। इसलिये सब प्रमाण चार प्रमाणों के अन्तर्गत होने से अधिक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—क्या अनुमान और अर्थापत्ति आदि में कोई भेद नहीं?

उ०—अनुमान कई प्रकार का होता है जो व्याप्ति ज्ञान से सम्बन्ध रखता है अर्थापत्ति आदि भी बिना सम्बन्ध के नहीं हो सकती। इसलिये ये सब अनुमान के भेदों में आजाती हैं अनुमान के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं हो सकता। अब वादी अर्थापत्ति पर आक्षेप करता है—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥३॥ (पूर्वपक्ष)

अर्थापत्ति को प्रमाण मानना ठीक नहीं क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष है। जब यह कहते हैं कि बादल के न होने से वर्षा नहीं होती, अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि बादल के होने से अवश्य वर्षा होगी परन्तु प्रायः अवसरों पर बादलों के होने पर भी वर्षा नहीं होती, यही व्यभिचार दोष है। इसलिए अर्थापत्ति अप्रमाण है। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं:—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥४॥ [उ० पक्ष]

वादी ने जो अर्थापत्ति के प्रमाण होने में दोष दिया है वह ठीक नहीं, क्योंकि यह कहना बिलकुल ठीक है कि कारण के न होने से कार्य नहीं हो सकता। इससे यह अर्थापत्ति होती है कि कारण के होने से कार्य होता है। परन्तु न तो कारण के होने पर कार्य की अनुपपत्ति से कारण की सत्ता में व्यभिचार दोष आता है और न बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कभी बिना बादल के वृष्टि होजाती तो व्यभिचार दोष आ सकता था। क्योंकि प्रतिज्ञा यह थी कि बिना बादल के वर्षा नहीं होती है। यदि कभी कहीं पर बिना बादल के वर्षा होती तो व्यभिचार कहलाता। क्योंकि कारण की विद्यमानता में भी किसी प्रतिबन्ध के होने से कार्य का न होना सम्भव है। प्रतिवादी का यह आशय नहीं था कि बादल के होने से अवश्य ही वर्षा होती है किन्तु उसका आशय जिसको उसने अर्थापत्ति से सिद्ध करना था यह कि बादल के होने पर वर्षा होती है। इस वास्ते जबतक

बिना बादल के वर्षा का होना सिद्ध न हो जावे, तब तक व्यभिचार दोष नहीं आ सकता। वादी ने अनर्थापत्ति को अर्थापत्ति मान कर आक्षेप किया है इसलिए वह ठीक नहीं। इस पर एक हेतु और देते हैं--

प्रतिषेधाप्रामाण्य चानैकान्तिकत्वात् ॥५॥ [उ०पक्ष]

व्यभिचार दोष लगाकर जो वादी ने अर्थापत्ति का खण्डन किया है, जबकि यह खण्डन आप ही व्यभिचारी दोष से युक्त है,तब उससे अर्थापत्ति का खण्डन इस युक्ति से नहीं हो सकता किंतु जहां पर भ्रांति से अनर्थापत्ति को अर्थापत्ति बनाया गया हो, वही पर यह दोष आ सकता है और जहां ठीक अर्थापत्ति हो वहां यह दोष नहीं लगता। इसलिए सब जगह लागू न होने से यह खण्डन व्यभिचार युक्त है। और भी हेतु देते हैं:-

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्यप्रामाण्यम् ॥६॥ [उ० पक्ष]

यदि व्यभिचार दोष होने पर भी यथावसर युक्त होने से खण्डन को प्रमाण मान लिया जावे तो अर्थापति को भी यथावसर युक्त होने से प्रमाण मानना पड़ेगा और यह हो नहीं सकता कि सव्यभिचार होने से खण्डन को तो प्रमाण मान लिया जावे और अर्थापत्ति को प्रमाण न माना जावे। इसलिये इस यक्ति से भी अर्थापत्ति का प्रमाण होना सिद्ध है। अब अभाव प्रमाणत्व में शंका करते हैं--

नाभावप्रामाण्यम् प्रमेया सिद्धेः ॥७॥ [पूर्वपक्ष]

प्रत्येक प्रमाण प्रमेय की सिद्धि के लिए होता है, जब कि अभाव का कोई प्रमेय नहीं, तो वह प्रमाण कैसे हो सकता है ?

प्र०--बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती, यह तो सर्वसम्मत है, किन्तु बिना प्रमेय के प्रमाण की सिद्धि नहीं होती, यह बात ठीक नहीं।

उत्तर—इस संसार में कोई वस्तु निष्प्रयोजन नहीं और प्रमाण से सिवाय प्रमेय ज्ञान के और कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए ऐसा प्रमाण जिसका कोई प्रमेय न हो व्यर्थ होने से माननीय नहीं हो सकता। इस का उत्तर सूत्रकार देते हैं:—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेय सिद्धेः ॥८॥
(उत्तरपक्ष)

क्योंकि अभाव के प्रमेय सिद्ध है, इस लिये यह कहना कि अप्रमेय होने के कारण अभाव प्रमाण नहीं, ठीक नहीं है।

प्रश्न—अभाव का प्रमेय क्या है ?

उत्तर—किसी वस्तु का लक्षण करने से उस लक्षण से व्यतिरिक्त पदार्थों का ज्ञान अभाव प्रमाण का प्रमेय है। लाल, पीले और नीले फल मौजूद हैं एक मनुष्य कहता है कि जो फूल नीले नहीं हैं उनको ले आओ, तो वह झट लाल और पीले फूल ले आता है। अब इन फूलों के लाने में उसको क्या लक्षण मिला ? केवल नीलेपन का न होना और यही उनको दूसरों से अलग करने का कारण है। इसलिये नीलेपन के अभाव से जिन पदार्थों का ज्ञान हुआ, वे ही उस अभाव का प्रमेय सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह निकला कि जिसका लक्षण किया जावे उससे व्यतिरिक्त या विरुद्ध पदार्थ अभाव प्रमाण से जाने जाते हैं। इसलिये अभाव को प्रमाण मानना चाहिये। और भी हेतु देते हैं:—

असत्यर्थेनाऽभाव इति चेन्नान्यत्र लक्षणोपपत्तेः ॥९॥ (उत्तरपक्ष)

जब कोई वस्तु पहले विद्यमान हो और पीछे न रहे तो उसका अभाव कहा जाता है, क्योंकि जिसका भाव पहले न हो, उसका अभाव हो ही नहीं सकता, वस्तुतः भाव का नाश ही अभाव है।

प्रश्न—क्या जो वस्तु विद्यमान होकर नाश न हो जावे उसका अभाव नहीं माना जायगा ?

उत्तर—वस्तु के होने पर उसका नाम और लक्षण होते हैं

जिसका कोई नाम या लक्षण ही नहीं ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। उसका भाव और अभाव दोनों नहीं हो सकते।

प्रश्न—खरगोश के सींग और आकाश के फूल कभी उत्पन्न नहीं हुए और न उनका नाश ही हुआ है किन्तु सब लोग उनका अभाव मानते हैं।

उत्तर—सींग और फूल दोनों पदार्थ संसार में विद्यमान हैं, इनके नाम और लक्षण भी विद्यमान हैं, उनको खरगोश और आकाश के साथ मिलाकर वहां उनका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि फूल और सींग कोई वस्तु न होते तो उनका भाव और अभाव दोनों नहीं हो सकते थे। जो लक्षण सींग के हैं, वे अन्यत्र देखे जाते हैं, खरगोश के शिर पर न होने से वहां उनका अभाव सिद्ध किया जाता है। इस पर वादी कहता है:—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥ (पूर्वपक्ष)

जिन पदार्थों का लक्षण नहीं कहा गया उनमें लक्षण का अभाव मानना ठीक नहीं। क्योंकि वे लक्षण अन्य पदार्थों में विद्यमान हैं, जो पदार्थ लक्षण लक्षित हैं उनका अलक्षितों में अभाव मानना ठीक नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ की सत्ता और स्वरूप का ठीक ज्ञान होता है, वही लक्षण एक को दूसरे से पृथक करता है। अभाव का कोई स्वरूप ही नहीं, इसलिये वह किसी को किसी से अलग कर ही नहीं सकता। इसका उत्तर:—

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ११ ॥ (उत्तरपक्ष)

हम यह नहीं कहते कि जो लक्षण होते हैं, उनका अभाव होता है, किन्तु हम यह कहते हैं कि कुछ लक्षण पाये जाते हैं और कुछ नहीं पाये जाते। परीक्षक जिन लक्षणों के भाव को अनुभव नहीं करता, उन्हीं लक्षणों के अभाव से उस वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे किसी ने कहा कि इस फूलों के ढेर में से लाल और पीले छोड़ कर दूसरे फूल लाओ।

अब फूल के लक्षण तो सब फूलों में पाये जाते हैं, किंतु लाल और पीला होना किसी में है और किसी में नहीं, अब जिन फूलों में रक्तता और पीतता का अभाव होगा, उनको वह मनुष्य ले जायगा। केवल लाल और पीले न होने से ही उन फूलों का ज्ञान हुआ है अन्यथा और कोई प्रमाण उन फूलों का ज्ञान करने वाला नहीं था।

प्र०—अभाव कितने प्रकार का है? सूत्रधार इसका उत्तर देते हैं:—

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥१२॥ [उ०पक्ष]

उ०—अभाव दो प्रकार का है। (१) किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहिले उसका अभाव होता है, इसको प्रागभाव कहते हैं। (२) किसी वस्तु के नाश हो जाने पर उसका अभाव हो जाता है इसी को प्रध्वंसाभाव कहते है। जहाँ किसी पदार्थ में लक्षण के अभाव से ज्ञान होता है, वह प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव नहीं।

प्र०—क्या तुम अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव को नहीं मानते?

उ०—अन्योन्याभाव तो इन्हीं दोनों में आजाता है, अत्यन्ताभाव की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव किसी पदार्थ का हो नहीं सकता। कारण यह है कि पदार्थ के विद्यमान होने से उसके लक्षण और नाम होते हैं, अब जिस वस्तु का अत्यन्ताभाव मानते हो, उसके नाम और लक्षण नहीं हो सकते और जब नाम और लक्षण ही नहीं है तो अभाव किस का कहा जायगा? इसलिये दो ही प्रकार का अभाव मानना ठीक है।

अब शब्द की विशेष परीक्षा आरम्भ करते हैं शब्द नित्य है या अनित्य? प्रश्न करते हैं:-

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः ॥१३॥ [पू०पक्ष]

शब्द के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत है। कोई तो

यह मानते हैं कि शब्द आकाश गुण, व्यापक और नित्य है, अनित्य क्रिया से शब्द का केवल आविर्भाव होता है, शब्द उत्पन्न नहीं होता। कोई यह कहते हैं कि जड़ आकाश का गुण जो शब्द है वह पृथ्वी के गुण गन्ध आदि की तरह अनित्य है और कोई ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान की तरह शब्द उत्पत्ति और विनाश धर्म वाला है। इन भिन्न २ मतों के श्रवण करने से यह सन्देह होता है शब्द नित्य है व अनित्य ? अगले सूत्र में सूत्रकार उसका अनित्य होना सिद्ध करते हैं:-

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वादकृतकवदुपचाराच्च ॥१४॥ (उ०)

जब कि शब्द की कारण से उत्पत्ति है और वह इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है और उच्चारण से पहले नहीं होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द अनित्य है। संसार में जो पदार्थ कारण से उत्पन्न होते हैं, वे सब अनित्य हैं और जो इन्द्रियों से ग्रहण किए जाते हैं, वे भी अनित्य है, क्योंकि संयुक्त द्रव्य ही इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं और शब्द बिना वायु पृथ्वी और आकाश के उत्पन्न नहीं हो सकता, जिससे उसका संयुक्त होना सिद्ध है। संयुक्त होने से शब्द अनित्य है।

प्रश्न—शब्द के संयुक्त होने का क्या कारण है ?

उत्तर—यदि होठों को बन्द करके बोलने की चेष्टा की जाय तो शब्द बिलकुल न होगा, क्योंकि वायु के आने और जाने का रास्ता नहीं रहा, जब वायु को रोका जाता है, तब शब्द उत्पन्न होता है।

प्रश्न—शब्द को संयुक्त और विनाश धर्मवाला कहना ठीक नहीं, क्योंकि शब्द गुण है और गुण कभी संयुक्त नहीं होता।

उत्तर-गुण और गुणी का समभाव सम्बन्ध होने से यदि गुणी अनित्य है तो उसका गुण भी अवश्य अनित्य होगा। पृथ्वी और जल के अनित्य और संयुक्त होने से इनके गुण, गंध और रस कभी नित्य या असंयुक्त नहीं हो सकते। जब शब्द वायु के संयोग से उच्चारित

होता है तब वह नित्य कैसे हो सकता है अतएव उत्पत्ति धर्मवान्,इन्द्रियजन्य और कृतक होने से शब्द अनित्य है। पुनः वादी शङ्का करता है।

न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्यवदुपचाराच्च ॥१५॥

(पूर्वपक्ष)

शब्द के अनित्यत्व में जो आदिमान का हेतु दिया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि घटादि का अभाव भी आदिमान है और नित्य है। जब घट का नाश होता है तब उसका उत्पन्न होता है, घटाभाव की उत्पत्ति का कारण घट का नाश है, इस प्रकार उत्पन्न होने पर भी घटाभाव का फिर कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार आदिमान घटाभाव के नित्य होने से कारणवान शब्द का भी नित्य होना अनुमान से सिद्ध होता है। दूसरे जो इंद्रियजन्य होने के कारण शब्द को अनित्य कहा गया है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि घटत्व और पटत्व आदि जातियों का ग्रहण भी इन्द्रियों से होता है किन्तु जाति नित्य है, क्योंकि वह सब में रहती है। जब इन्द्रियजन्य होने से जाति अनित्य नहीं हो सकती तब फिर इस कारण से शब्द अनित्यवत् प्रतीत होने से शब्द अनित्य है,यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार वस्त्रादि अनित्य पदार्थों के भाग होते हैं,उसी प्रकार नित्य आकाश के भी विभाग हो सकते हैं,जैसे आकाश और मठाकाश आदि। इस प्रकार विभक्त होने से नित्य आकाश अनित्य नहीं हो जाता। तथा नित्य आत्मा कभी अपने को सुखी और कभी दुखी मानता है इससे आत्मा का अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। जब कि नित्य आकाश और आत्मा में ये व्यवहार होते हैं तो शब्द में ऐसे ही व्यवहार होने से वह अनित्य क्योंकर हो सकता है।

तत्त्वभा तयोर्नानत्वविभागादव्यभिचारः ॥१६॥ (उ०प०)

विभाग दो प्रकार का है। एक वास्तविक दूसरा काल्पनिक। आकाश में जो घटाकाश और मठाकाश के विभाग किये जाते हैं; वे काल्पनिक हैं न कि वास्तविक, क्योंकि वे घट और मठ के सम्बन्ध से कल्पित किये जाते हैं,इसी प्रकार आत्मा में सुख और दुख भी मन के सम्बन्ध से माने जाते हैं, इसलिए वे मन के धर्म हैं. न कि आत्मा के। अभाव का नित्य होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि अनादिमान् होने पर भी अभाव को नित्य माना जावे तो इसका यह अर्थ होगा कि उसकी उत्पत्ति तो है, विनाश नहीं। यह असम्भव है इसलिए अभाव नित्य नहीं हो सकता।

अभाव के काल्पनिक नित्य होने में एक हेतु यह भी है कि घट की उत्पत्ति से पहिले जो घट का अभाव था, वह घट के उत्पन्न होजाने से नाश हो जायगा। और घट के नाश से जो अभाव उत्पन्न होगा, वह कारणवान् न होगा, क्योंकि कारण भाव का होता है, अभाव का नहीं। अभाव तीनों कालों में रहने वाला और नित्य है। घट बनने से पहिले भी घट का अभाव था, घट बनने पर भी घट के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में घट का अभाव है, घट के नाश होने पर भी घट का अभाव होगा। इसलिये घट के नाश होने पर घट के अभाव को कारणवान बतलाना सरासर कल्पित है। शब्द के अनित्यत्व में और भी हेतु देते हैं:—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १७ ॥ (उ०प०)

वादी ने जो कहा था कि जाति का ज्ञान भी इन्द्रियों से होता है, परन्तु वह नित्य है, इसलिये इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण शब्द भी अनित्य नहीं हो सकता। इसके उत्तर में प्रतिवादी कहता है कि हमारा यह आशय नहीं है कि केवल इंद्रियग्राह्य होने से ही शब्द अनित्य है किन्तु वायु के धक्के और मुखादि अवयव की चेष्टा से शब्द सन्तति की उत्पत्ति होती है। इससे भी उसके अनित्य होने का अनुमान किया

जाता है। तीसरे हेतु का खण्डन :—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ॥ १८ ॥ [उत्तर पक्ष]

वादी ने जो कहा था कि नित्यों में भी अनित्य का सा उपचार होता है यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि कारण द्रव्य का प्रदेश कहने से नित्यों में भी व्यभिचार नहीं होता। जैसे कार्य द्रव्यों के लिये प्रदेश का शब्द कहा जाता है, ऐसे कारण के लिए नहीं। कार्यद्रव्य के परिच्छिन्न होने से उसके साथ प्रदेश का विशेष सम्बन्ध समझा जाता है और कारण द्रव्य के साथ उसके परिच्छिन्न होने से प्रदेश का सामान्य सम्बन्ध होता है, इसलिए व्यभिचार दोष नहीं। पुनः शब्द का अनित्यत्व साधन करते हैं—

प्रागुच्चारणाद्यनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥१९॥ [उत्तरपक्ष]

उच्चारण से पहले शब्द नहीं होता यदि होता तो उसकी उपलब्धि होती क्योंकि जब तक किसी पदार्थ की उपलब्धि न हो, तब तक उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि कोई कहे कि उस समय शब्द छिपा हुआ होता है और वह उच्चारण से प्रकट हो जाता है तो कोई आवरण भी नहीं दीखता जिसने शब्द को छिपाया हुआ हो। इसलिए यही मानना ठीक है कि उच्चारण ही उसकी उत्पत्ति है और उच्चारण से पहिले उसकी कोई सत्ता नहीं है।

प्रश्न—उच्चारण किसे कहते हैं।

उत्तर—जब आवश्यकता होती है तो आत्मा हृदयस्थ वायु को प्रेरणा करती है जिससे कण्ठ तालु आदि स्थानों पर एक प्रकार का आघात होता है जैसे वीणातन्तुओं पर उङ्गली का आघात होने से भिन्न २ स्वर निकलते हैं इसी प्रकार कण्ठादि स्थानों पर वायु का आघात होने से भिन्न भिन्न शब्द निकलते हैं।

प्रश्न—उच्चारण से शब्द की केवल अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है, न कि उत्पत्ति।

उत्तर—यदि बोलने से शब्द की उत्पत्ति न मानोगे तो शब्द हुआ था, हो रहा है और होगा,यह कहना नहीं बन सकता. क्योंकि ऐसा अनित्य कार्य के वास्ते ही कहा जा सकता है, नित्य कारण के लिए नहीं।

प्रश्न—यह कहना ठीक नहीं कि शब्द संयोग से प्रकट होता है। क्योंकि संयोग के पश्चात् भी शब्द बना रहता है। जैसे कहने वाले के मुँह से निकल कर सुनने वाले के कान में पहुंचने तक शब्द बने रहते हैं। इससे शब्द का कारण संयोग को मानना ठीक नहीं।

उत्तर—संयोग शब्द का उपादान कारण नहीं कि संयोग के पश्चात् शब्द न रह सके किन्तु संयोग शब्द का निमित्त कारण है। और निमित्त कारण के न रहने पर भी कार्य रह सकता है। जैसे दण्ड और चक्र के टूट जाने पर भी घड़ा बना रह सकता है। वादी पुनः आक्षेप करता है—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भानदारणोपपत्तिः ॥२०॥ [पूर्वपक्ष]

यह जो कहा गया है कि शब्दावरक पदार्थ के प्रतीत न होने से शब्द का छिप जाना नहीं मान सकते, किन्तु शब्द का नाश मान सकते हैं, इसका उत्तर यह है कि आवरक पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने से यह मान लेना कि आवरक वस्तु नहीं है, ठीक नहीं। किन्तु जब शब्द होकर नष्ट हो गया तो उसकी दोनों अवस्थायें अनुमित हो सकती हैं अर्थात् शब्द का छिप जाना या नाश हो जाना। जो कि आवरण का अभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है इसलिये आवरण का होना सिद्ध है। इस पर और भी हेतु देते हैं :—

अनुपलम्भादनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिनुपलम्भात् ॥२१॥ [पूर्व पक्ष]

आवरण के प्रत्यक्ष न होने से जो अनुपलब्धि अर्थात् ज्ञान का

न होना माना जावे और अनुपलब्धि का अभाव न माना जावे तो आवरण के न होने पर आवरण का भाव मानना चाहिये जिससे शब्द छिप जाता है और जब बोलने वाला बोलने की चेष्टा करता है तो वह आवरण दूर हो जाता है तब शब्द प्रकट होता है । वास्तव में शब्द सदा विद्यमान रहता है ।

प्र०—अनुपलब्धि किसे कहते हैं ?
उ०—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने को ।
प्र०—अनुलब्धि का अभाव क्या है ।
उ०—उसका प्रत्यक्ष होना । इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ २२ ॥ (उ० प०)

जिस पदार्थ की उपलब्धि होती है उसी की सत्ता मानी जाती है और जिसकी किसी प्रकार उपलब्धि नहीं हो सके उसका अभाव माना जाता है, यह सिद्धान्त है । ज्ञान के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, इसलिये उसका भाव नहीं हो सकता । अतः आवरण के होने का ज्ञान होना चाहिए, जब तक आवरण के भाव का ज्ञान न हो जावे, तब तक आवरण की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और यह जो हेतु दिया गया है, कि अनुपलब्धि अर्थात् किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से उसकी सत्ता का होना सिद्ध है, यह भ्रान्तियुक्त है, क्योंकि अभाव का हेतु अभाव नहीं हो सकता ।

प्रश्न–इस हेतु में त्रुटि क्या है ?

उत्तर—किसी पदार्थ के भाव अर्थात् सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती इसलिए आवरण की सत्ता के लिए प्रमाण की आवश्यकता है । अब शब्द के नित्य होने में वादी और हेतु देता है—

अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥ (पू० प०)

जितने पदार्थ संयुक्त हैं उन सबका स्पर्श होता है, असंयुक्त का स्पर्श नहीं होता। जो कि शब्द का स्पर्श नहीं होता इसलिये शब्द संयुक्त नहीं, किन्तु सूक्ष्म है और सूक्ष्म वस्तु नित्य होती है, इसलिये शब्द नित्य है ।

प्रश्न—स्पर्श रहित वस्तुओं के सूक्ष्म होने का क्या प्रमाण है ?

उत्तर-पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चारों भूत संयुक्त हैं। पृथिवी में पांचों भूत मिले रहते हैं इसलिए उसका गुण गन्ध अनित्य है। जल में चार, अग्नि में तीन और वायु में दो तत्व मिले रहते हैं इसलिये इनके गुण, रस, दाह और स्पर्श भी अनित्य हैं केवल आकाश असंयुक्त और विभु है, इसलिए उसका गुण शब्द भी असंयुक्त और नित्य है, वायु तक जिसका गुण स्पर्श है पदार्थ अनित्य है, किन्तु आकाश, आत्मा और काल इनका स्पर्श नहीं होता इसलिए यह नित्य हैं। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २४ ॥ (उत्तर पक्ष)

शब्द को केवल स्पर्श रहित होने से नित्य मानना ठीक नहीं क्योंकि कर्म भी स्पर्श रहित शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है, इसी प्रकार स्पर्श रहित है, किन्तु उत्पत्तिमान् होने से अनित्य है। अब इसके विरुद्ध स्पर्शवान् का नित्य होना सिद्ध करते हैं।

नाणुनित्यत्वात् ॥२५॥ (उ. प.)

यह हेतु कि स्पर्शवान् अनित्य और स्पर्शरहित नित्य होता है, व्यभिचारी है। स्पर्श रहित कर्म का अनित्य होना दिखला चुके हैं. अब स्पर्शवान् अणु का नित्य होना दिखलाते हैं। परमाणु स्पर्शवान् है, परन्तु वह नित्य है।

प्रश्न-परमाणु का स्पर्शवान् होना परमाणु के अप्रत्यक्ष होने से सिद्ध नहीं होता।

उ०—जो गुण कारण में होते हैं, वे ही कार्य में भी आते हैं,

इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु जिनका स्पर्श हो सकता है, उनके परमाणु भी स्पर्श रहित नहीं हो सकते। अब वादी शब्द के नित्य होने में और हेतु देता है—

सम्प्रदानात् ॥ २६ ॥ (पूर्वपक्ष)

सम्प्रदान का अर्थ देना है, किन्तु यहां पर देने का तात्पर्य शब्द के द्वारा गुरु का शिष्य का ज्ञान देना है। दान में वह वस्तु दी जाती है जो देने से पहले विद्यमान हो गुरु जब शिष्य को विद्यादान देता है, तब विद्या की सम्पत्ति से पहले उसके पास मौजूद होती है और वह सम्पत्ति शब्दमय है। विद्यादान से पहले शब्द गुरु के ज्ञान में मौजूद थे, और विद्यादान के पश्चात् वे शिष्य के ज्ञान में उपस्थित हो जाते हैं। इस युक्ति से शब्द उच्चारण से पूर्व और पश्चात भी होना सिद्ध है अतः उसको उत्पत्ति धर्मवान् नहीं कहा जा सकता, और जब शब्द अनुत्पत्ति धर्मवान् है तो उसके नित्य होने में सन्देह क्या है? इसका उत्तर—

तदन्तरालाऽनुपलब्धेरहेतुः ॥ २७॥ [पूर्वपक्ष]

जबकि पढ़ाने से पहिले और उसके पश्चात् भी शब्द की उपलब्धि नहीं होती, तब इस युक्ति से शब्द नित्य क्योंकर सिद्ध हो सकेगा इसका तात्पर्य यह है कि गुरु के बोलते समय तो शब्द प्रत्यक्ष हो होता है, उससे पहले और पीछे नहीं होता। इसलिए शब्द गुरु के बोलने से उत्पन्न होता है, यदि शब्द नित्य होता तो पढ़ाने से पहले और पीछे भी मौजूद होता। अब वादी पुनः आक्षेप करता है—

अध्यापनादप्रतिषेध ॥२८॥ [उत्तर पक्ष]

कहने से पहले और पीछे भी शब्दों की उपलब्धि पाई जाती है उसके प्रत्यक्ष न होने से उसकी सत्ता का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि गुरु के हृदय में जो शब्द मौजूद हैं उन्ही में से जिन शब्दों की आवश्यकता प्रतीत होती है उनका प्रवचन किया जाता है, यदि उन शब्दों

का गुरु के हृदय में विद्यमान होना न माना जाय तो गुरु और शिष्य में अन्तर ही क्या रहा ? क्योंकि दोनों को उन शब्दों का ज्ञान नहीं, इससे पढ़ना और पढ़ाना दोनों नहीं हो सकते। क्योंकि यदि पहले से शब्दों का होना न माना जाय तो गुरु में अज्ञान सिद्ध होगा। यदि पश्चात् उनका अभाव माना जाय तो शिष्य को विद्या की प्राप्ति न हो सकेगी क्योंकि ज्ञान के आधार शब्द तो नष्ट होगये फिर शिष्य को विद्या की प्राप्ति क्योंकर हुई। इसलिये जिस प्रकार प्रकाश के अभाव में पदार्थों के विद्यमान होने पर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता इसी प्रकार शब्द का भी कण्ठ, तालु आदि के प्रयत्न न होने से जो उसके प्रकट करने वाले हैं प्रकाश नहीं होता। इसका उत्तर अगले सूत्र मे देते हैं—

उभयोः पक्षयोरन्तरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥२९॥ [उत्तरपक्ष]

जोकि शब्द की नित्य और अनित्य दोनों अवस्थाओं में पढ़ना और पढ़ाना हो सकता है। विद्या का दान उपस्थित वस्तु के दान के समान नहीं, किन्तु गुरु शिष्य को अपने उन प्रयत्न विशेषणों से, जो उसे बोलने मे करने पड़ते है, शिक्षा देता है। इसलिये पढ़ाने से शब्द का नित्य होना सिद्ध नहीं हो सकता। इस पर वादी फिर आक्षेप करता है—

अभ्यासात् ॥३०॥ (पूर्वपक्ष)

एक शब्द बारम्बार कहा जाता है, इससे भी शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है, जैसे कोई मनुष्य कहता है कि मैंने अमुक वस्तु को पाँचबार देखा, यदि वह वस्तु अनित्य होती तो एक बार देखने के पश्चात् फिर उसका देखना सम्भव न होता। इसी तरह शब्द को अनेक बार बोलते देखकर यह अनुमान होता है कि शब्द भी नित्य है। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥३१॥ (उत्तर पक्ष)

बार बार उच्चारण करने से शब्द नित्य नहीं हो सकता क्योंकि

अनित्य वस्तुओं का भी बार-बार उच्चारण देखा जाता है। जैसे दो बार हवन करता है, तीन बार भोजन करता है, इत्यादि जब बार-बार करने से हवन और भोजन नित्य नहीं हो सकते, तब बार-बार के उच्चारण शब्द नित्य क्यों कर हो सकता है ? इस लिये व्यभिचार होने से यह हेतु ठीक नहीं। अब वादी फिर शंका करता है :—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताभावः ॥ ६२ ॥ (पूर्वपक्ष)

यह कहना कि अन्य होने पर भी बार-बार होना कहा जाता है ठीक नहीं क्योंकि अन्य होने की दशा में उनमें भेद होना चाहिये, जब भेद मानोगे, तो फिर उसी वस्तु का पुनः होना नहीं कहा जा सकता, किन्तु दूसरी वस्तु का भाव मानना पड़ेगा। इसलिये भेद के होने पर एक शब्द को कोई बार कहना बन नहीं सकता। अतः घट शब्द को जितनी बार कहा जावेगा उसमें एकता का ही ज्ञान होगा, भिन्नता का नहीं। इसलिये एक ही शब्द बार बार कहा जाने से नित्य है। इसका उत्तर इस प्रकार है :—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३३ ॥ (उ०)

जो तुम अन्य से अन्य कहकर फिर उसका खण्डन करते हो यह ठीक नहीं। क्योंकि जो अन्य न हो वह अनन्य (एक) कहलाता है। जब अन्य कोई वस्तु ही नहीं है तब उसका खण्डन या अभाव हो ही नहीं सकता। इसलिये बिना अन्य के एक सिद्ध ही नहीं हो सकता क्योंकि अन्य और एक ये दोनों परस्पर सापेक्ष्य हैं। जब अन्य के अभाव में तुम्हारी अनन्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती, तब अनन्यता का अभाव सिद्ध करके कैसे शब्द को नित्य सिद्ध कर सकोगे। अब वादी शब्द की नित्यता में और हेतु देती है—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३४ ॥ [पूर्वपक्ष]

जितने अनित्य पदार्थ हैं, उनके विनाशकारण की उपलब्धि होती है, जैसे संयोग से घड़ा बनता और वियोग से टूट जाता है तो

संयोगकारण का विरोधी वियोग कारण है। अब यदि शब्द की उत्पत्ति मानी जावे तो उसके विनाशका कारण भी होना चाहिए परन्तु नाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए शब्द नित्य हैं। आगे इसका उत्तर देते हैं:—

अश्रवणकारणानुपब्धे सततश्रवणप्रसंग ॥३५॥ (उत्तरपक्ष)

शब्द न सुन पड़ने के कारण मौजूद न होने से सर्वदा श्रवण होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता, फिर शब्द के विनाश का कारण मालूम न होने से वह नित्य क्यों कर हो सकेगा। इस पर एक हेतु और भी देते हैं:—

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्वादनुपदेश ॥३६॥

शब्द के विनाश का कारण अनुमान से प्रतीत होता है इसलिये शब्द के नित्य होने में विनाश कारण की अनुपलब्धि को हेतु ठहराना ठीक नहीं। जब शब्द की उत्पत्ति का कारण है, तब अनुमान से उसके विनाश का कारण स्वयं सिद्ध होता है क्योकि जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश अवश्य होगा।

प्रश्न—शब्द के नाश का कारण क्या है ?

उत्तर—जो शब्द उत्पत्ति धर्म वाला है उसकी उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है,वही शब्द को उत्पन्न करके फिर उसके विनाश का कारण होता है। जब शब्दोच्चारण की क्रिया समाप्त हो जाती है तब शब्द नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—जो प्रयत्न शब्द की उत्पत्ति का कारण है वही उसके विनाश का कारण क्यों कर हो सकता है।

जैसे संयोग वियोग का कारण है अर्थात् वियोग होने के लिये संयोग होता है इसी प्रकार नाश के लिये पदार्थ की उत्पत्ति होती है। जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश अवश्य होगा जैसे कि देहादि शब्द की उत्पत्ति जब वादी को भी सम्मत है तब उसके नाशवान और अनि-

त्य होने में संदेह ही क्या है ?

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धि ॥३७॥ उ०

जब घण्टे में चोट लगने से शब्द होता है तब उस घण्टे को हाथ से पकड़ लेने से आवाज बन्द हो जाती है, इससे भी शब्द का अनित्य होना स्पष्ट प्रतीत होता है। जिस प्रकार दण्ड के आघात से शब्द उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार हाथ के स्पर्श से वह नष्ट हो गया। इस पर पुनः विवेचना की जाती हैं :—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्ग ॥३८॥

(उत्तर पक्ष)

यदि तुम ऐसा मानते हो कि शब्द के नाश कारण नहीं है तो इससे शब्द का नित्यत्व पाया जाता है। यदि शब्द को नित्य माना जावे तो निरन्तर कानों से श्रवण होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता जिससे स्पष्ट अवगत होता है कि प्रयत्न विशेष से शब्द उत्पन्न होता है और उस प्रयत्न के समाप्त हो जाने पर नष्ट हो जाता है, अतः शब्द अनित्य है। वादी पुनः शङ्का करता है :—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेध ॥३९॥ [पूर्वपक्ष]

शब्द के स्पर्श रहित होने से घण्टे को हाथ से पकड़ कर शब्द का नाश नहीं हो सकता। शब्द आकाश का गुण है और वह सदा आकाश में रहता है। घन्टे में दण्ड के आघात से उसकी उत्पत्ति नहीं होती और न हाथ के स्पर्श से उसका नाश होता है किन्तु इन क्रियाओं से शब्द का आविर्भाव और तिरोभावमात्र होना है। इसका समाधान करते हैं :

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ४० ॥ [उत्तर पक्ष]

कुछ यही एक बात नहीं कि घण्टा बजाकर छू देने से शब्द रुक जाता हो, किन्तु एक ही घण्टे या कुछ बाजे आदि में अनेक विभागों के शब्द को हम सुनते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आकाश के अति-

रिक्त अन्य द्रव्य भी शब्द भेद का कारण है, इसलिये यह शब्द विभाग भी शब्द के अनित्य होने का कारण है।

प्रश्न—शब्द कितने प्रकार का है ?

उत्तर—दो प्रकार का। एक ध्वन्यात्मक, दूसरा वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द की परीक्षा हो चुकी, अब वर्णात्मक शब्द की परीक्षा प्रारम्भ करते हैं। संशय का कारण बतलाते हैं :—

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥४१॥ (पूर्वपक्ष)

वर्णात्मक शब्द में विकार और आदेश होते हैं, इसलिये संशय उत्पन्न होता है।

प्रश्न—विकार किसे कहते हैं ?

उत्तर—जैसे व्याकरण में बतलाया गया है कि 'इ' को 'य' हो जावे तो अब यकार इकार का विकार हुआ, विकार का अर्थ बिगड़ कर अन्य रूप को धारण कर लेना है, जैसे दूध से दही हो जाता है।

प्रश्न—आदेश किसे कहते है ?

उत्तर—आदेश वह है जो स्थानी के स्थान में होता है, जैसे 'इ' के स्थान में 'य' होता है। कोई इसे विकार कहते हैं और कोई आदेश।

प्रश्न—यदि यकार को इकार का विकार माना जाय, तो इसमें क्या दोष होगा ?

उत्तर—यदि विकार मानोगे तो इकार को यकार का कारण मानना पड़ेगा 'इ' 'य' का कारण नहीं है दूसरे जब 'इ' का 'य' बन गया तो 'इ' न रहनी चाहिये; जैसे दूध का जब दही बन जाता है तो दूध का नाश हो जाता है परन्तु ऐसा नहीं होता।

प्रश्न—दो कपालों के संयोग से घटरूप से कार्य बन जाता है वहां कारण रूप ज्ञान का नाश नहीं होता। इससे विकार मानने में कोई दोष नहीं।

उत्तर—कपाल और घट में कार्यकारण भाव हैं, किन्तु इकार

और यकार में यह सम्बन्ध नहीं, इसलिये विकार कहना अयुक्त है, उसको आदेश ही करना चाहिये।

प्रश्न—यदि इकार और यकार में कार्यकारणभाव सम्बन्ध माना जावे तो क्या दोष है ?

उत्तर—जब इकार में कुछ अधिक होकर यकार बन जावे, तब उसका कार्यकारणभाव सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु न तो इकार में से कुछ कम होकर यकार बनता है और नहीं कुछ मिलकर बना है। इस लिये कार्य कारणभाव नहीं हो सकता। जिस तरह गाड़ी में बैल को जगह घोड़ा लगा देने से घोड़ा बैल का स्थानापन्न होता है, इसी तरह इकार की जगह यकार बोलने से उसका आदेश होगा न कि विकार। क्योंकि अक्षर सब नित्य हैं इसलिये किसी अक्षर का विकार नहीं हो सकता। इसपर एक हेतु और देते हैं—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृधेः । ४२ । [उत्तरपक्ष]

जब किसी कार्य की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण बढ़ जाता है तो वह कार्य भी बढ़ जाता है। जैसे एक सेर दूध से जितना दही बन सकता है, पांच सेर दूध से उससे पांच गुना बन जायगा। पांच सेर मिट्टी से जितना घड़ा बनता है, बीस सेर मिट्टी से उससे चौगुना बनेगा। वर्णों में प्रकृति के बढ़ने से विकार नहीं बढ़ता। जैसे एक इकार से यकार बनता है, वैसे दो इकार से दुगना यकार नहीं होता, इससे सिद्ध है कि वर्णों में विकार नहीं होता। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:—

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४३ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि प्रकृति के बराबर ही उसके विकार के होने का नियम होता तब तो कह सकते थे कि वर्णों में विकार नहीं। परन्तु विकार कहीं प्रकृति से कम, कहीं बराबर और कहीं अधिक होता है। जैसे रुई से जो सूत बनता है, वह रुई से कम होता है और सुवर्ण से जो आभूषण बनते

हैं वे सोने के बराबर होते हैं और बीज से जो वृक्ष बनता है वह बीज से बहुत बड़ा होता है इस वास्ते यह हेतु की प्रकृति के बढ़ने से विकार भी बढ़ता है ठीक नहीं इसका उत्तर :—

नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४४ ॥ [उ०पक्ष]

प्रकृति से बड़ा, छोटा और बराबर का विकार दिखला कर जो वर्णों में विकार न होने का खंडन किया गया है वह ठीक नहीं। यद्यपि भिन्न २ प्रकृतियों से भिन्न २ प्रकार के विकार होते हैं, परन्तु एक प्रकार की प्रकृति से भिन्न प्रकार के विकार नहीं होते। वट से वट का ही वृक्ष उत्पन्न होता है, आम का नहीं बस यदि 'इ' का विकार 'य' होता तो इनमें इस पर पुनः आक्षेप करते हैं:—

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥ ४५ ॥ (पूर्वपक्ष)

आक्षेप की पुष्टि करते हैं। जैसे द्रव्यों से विषम विकार हो जाते हैं वैसे ही वर्णों (अक्षरों) से भी विषम विकार या विकार विकल्प हो जाते हैं अर्थात् जैसे मीठे दूध से खट्टा दही हो जाता है, ऐसे ही ह्रस्व व दीर्घ 'इ' वर्ण से भी विषम यकार हो जाता है। अब इसका समाधान करते हैं :—

न विकार धर्माऽनुपपत्तेः ॥ ४६ ॥ (उत्तरपक्ष)

विकार द्रव्य में होता है शब्द रूप वर्णों में विकार नहीं होता; क्योंकि शब्द गुण है, द्रव्य नहीं जो किसी दूसरे गुण का सहारा हो सके। इस लिये जो गुण विकार से उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य ही में होते हैं। उसका कारण यह है कि द्रव्य से जो परमाणुओं का संघात होता है) कुछ अंश निकलकर और कुछ नये मिलकर एक पृथक रूप धारण कर लेते हैं उसको विकार कहते हैं। परन्तु गुण में यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि वह संयुक्त या परमाणुओं का संघात नहीं। जब गुण में विकार धर्म हो ही नहीं सकता, तो शब्द में विकार किस प्रकार

हो सकता है ? अतः आदेश ही मानना ठीक है। इस पर एक और हेतु देते हैं—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥४७॥ (उत्तरपक्ष)

जो द्रव्य अपनी वास्तविक दशा से बिगड़कर विकार होता है वह फिर अपनी वास्तविक दशा में नहीं आ सकता, जैसे दूध से दही मिल कर फिर दूध नहीं हो सकता परन्तु शब्द में इसके विपरीत पाया जाता है। जैसे इकार को यकार हो जाता है, फिर यकार को इकार भी हो जाता है। इसलिए शब्द में विकार मानना ठीक नहीं। अब उसका खण्डन करते हैं—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४८ ॥ (पूर्वपक्ष)

विकृत होकर द्रव्य फिर अपनी वास्तविक दशा में नहीं आना, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि सुवर्ण के आभूषण बनकर फिर उनका सुवर्ण बन जाता है, इसलिए यह हेतु व्यभिचारी है ? अब इसका उत्तर देते हैं—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥ ४९ ॥ (उत्तरपक्ष)

सुवर्ण के आभूषण बनने से सुवर्ण से पृथक कोई वस्तु नहीं हो जाती। इसलिए यह दृष्टान्त ठीक नहीं। यदि कोई द्रव्य बिगड़े और भिन्न धर्म वाला होकर अपनी वास्तविक दशा में आ जाये, उसका दृष्टांत ठीक हो सकता है क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण में सुवर्ण का धर्म रहता है इस प्रकार इकार से यकार हो जाने पर यकार में इकार का धर्म नहीं रहता, अतः यह दृष्टान्त विषय है, अब इस पर आक्षेप करते हैं—

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥५०॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे सुवर्ण के विकार आभूषणादि में सुवर्णत्व धर्म रहता है। ऐसे ही इकार से बने हुए यकार में वर्णत्व धर्म रहता है अर्थात् दोनों

वर्ण ही कहलाते हैं। अतएव वर्ण विकार होने का प्रतिषेध नहीं हो सकता। आगे इसका उत्तर देते हैं–

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ॥५१॥ (उ० पक्ष)

सामान्यवान्=सुवर्ण में किसी धर्म (गुण) का योग हो सकता है, न कि सामान्य=सुवर्णत्व में कोई गुण रह सकता है, क्योंकि जब वह आप धर्म है तो फिर कुण्डलादि आभूषण उसके धर्म नहीं हो सकते किन्तु सुवर्ण के हो सकते हैं। जो कि वर्णत्व धर्म सामान्य हैं जोकि इकार और यकार दोनों में रहता है, इसलिए उसके धर्म हो नहीं सकते, जिससे इकार और यकार को बराबर मानकर यकार को इकार का विकार माना जावे। अतएव विकार मानना ठीक नहीं। इसी पक्ष की पुष्टि करते हैं–

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥५२॥(उ०पक्ष)

यदि वर्ण को नित्य माना जावे तो उसमें विकार हो नहीं सकता क्योंकि जिसमें विकार होता है, वह नित्य नहीं हो सकता। यदि वर्ण को अनित्य माना तो दूसरे वर्ण के कहने से पहले का नाश होजाता है, तब वर्ण की अनवस्थिति से विकार होना असम्भव है। इसलिए दोनों दशाओं में वर्ण में विकार होना सिद्ध नहीं हो सकता इसलिए कोई वर्ण किसी का विकार नहीं। अब इसका खण्डन करते हैं—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणाम-प्रतिषेधः ॥५३॥ [पू०प०]

नित्य पदार्थों के धर्म भिन्न २ हैं, कोई नित्य पदार्थ तो ऐसे हैं कि जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते, जैसे आकाश, काल आदि और कोई इन्द्रियग्राह्य है, जैसे मनुष्य जाति, गोजाति इत्यादि। इसी प्रकार कोई नित्य विकारी है और कोई अविकारी। परन्तु वर्ण नित्य होते पर विकारी है यदि कहो कि विकार और अविकार ये दो विरुद्ध धर्म एक

नित्य पदार्थों में नहीं रह सकते, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार उन नित्य पदार्थों में इन्द्रियगोचर होना और अतीन्द्रिय होना— ये दो विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं तो उनमें विकार और अविकार ये दोनों धर्म भी रह सकते हैं। परन्तु वादी का यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियगोचर होना नित्य होने का विरोधी नहीं है, किन्तु विकारी होना नित्यता का विरोध अवश्य है, और दो विरुद्ध गुण एक पदार्थ में रह नहीं सकते। अब जो अनित्य होने की दशा में विकार का होना सिद्ध किया है, उसका खण्डन करते हैं।

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ।५४।।(पू०प०)

वर्णों के अनवस्थान [न रहने] की दशा में भी उनका प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया जाता है: इसी प्रकार उनके विकारों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, अब विकार-हेतुओं का खण्डन करते हैं—

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाऽभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥ (उ० पक्ष)

धर्मों के वैधर्म्य से जो वर्ण में विकाराऽभाव का खंडन किया गया था, वह ठीक नहीं क्योंकि कोई विकारी पदार्थ नित्य नहीं देख पड़ता किन्तु सब नित्य पदार्थ अविकारी होते हैं। यदि कहो कि कालान्तर में तो विकार उपपत्ति हो सकती है, तब जैसे वर्ण के न रहने पर उसका ज्ञान माना जाता है, ऐसे ही कालान्तर में होने वाले विकार की प्रतिपत्ति माननी पड़ेगी, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इकार के उच्चारण काल में यकार और तकार के श्रवण काल में इकार नहीं रहता। इसलिए शब्द का विकार मानना ठीक नहीं इसी की पुष्टि में एक हेतु देते हैं—

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ ५६ ॥ (उ०पक्ष)

प्रकृति और उसका विकार नियत होते हैं, जैसे दूध प्रकृति है तो दही उसका विकार है। यह कभी नहीं हो सकता कि दही प्रकृति हो जावे और दूध उसका विकार अर्थात् सदा दूध से दही बनेगा,

दही से दूध कभी न बनेगा। परन्तु यदि वर्णों में विकार माना जावे तो उसमें यह नियम नहीं है, क्योंकि यदि कहीं इकार से यकार बनता है तो कहीं यकार से भी इकार बन जाता है। इसलिए प्रकृति और विकार का नियम न होने से शब्दों में विकार मानना ठीक नहीं है। फिर आक्षेप करते हैं:—

अनियमे नियमान्नानियमः ॥५७॥ (पू० पक्ष)

अनियम के नियत होने से अनियम न रहा अर्थात् जब यह बात नियमित हो गई कि वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम नहीं तो वह भी तो एक प्रकार का नियम है, फिर अनियम क्यों कहते हो ? इसका खंडन करते हैं—

नियमाऽनितमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ।५८।उ०पक्ष

नियम और अनियम दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, यह कभी एक साथ नहीं रह सकते। इसलिए अनियम में नियम कहना बिलकुल असङ्गत है, अतएव वर्ण विकार मानना ठीक नहीं। अब यदि वर्णों में विकार नहीं होता तो उनमें जो परिवर्त्तन होते हैं उनको क्या माना जावे ? इस पर आचार्य अपना मत प्रकाश करते हैं—

गुणान्तराऽऽपत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५९ ॥ (उ० पक्ष)

'तु' शब्द यहाँ पर पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् वर्णों में चाहे वैसा विकार न हो, जैसा दूध का विकार दही होता है, किंतु गुणान्तर, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि लेश और श्लेष के होने दूसरे प्रकार के विकार की [जिसको परिवर्तन कहना चाहिए] तो अवश्य प्रतिपत्ति होती है। गुणान्तर=उदात्त स्वर को अनुदात्त स्वर हो जाना। उपमर्द=अस को 'भू' और 'ब्रुव' को 'वच' आदेश हो जाना, ह्रास=दीर्घका ह्रस्वहो जाना है। वृद्धि-ह्रस्वको दीर्घ होजाना,लेश=कुछ अंश

कम हो जाना, जैसे 'अस' के 'अ' का लोप हो जाना। श्लेष=कुछ बढ़ जाना जैसे टित्, कित् मित् के आगम। ये छः प्रकार के परिवर्तन हैं जिनको वर्ण विकार के नाम से निर्देष किया जाता है, वस्तुतः एक वर्ण दूसरे वर्ण का स्थानापन्न है, न कि विकार। अब वर्ण से पद और पद से व्यक्ति आदि का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम पद का लक्षण करते हैं--

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥ (उ० पक्ष)

जब इन वर्णों के अन्त में विभक्ति लगाई जाती हैं तब इनकी पद संज्ञा हो जाती है।

प्र०—विभक्ति कै प्रकार की है ?

उ०—दो प्रकार की है (१) वे जो नाम=संज्ञा के साथ लगती हैं (२) वे जो आख्यात=क्रिया के साथ लगती हैं। जैसे देवदत्त पकाता है, यहां 'देवदत्त' संज्ञा है और 'पकाता है' यह क्रिया है। पद से अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिये अब अर्थ का वर्णन करते हैं–

तदर्थे व्यक्ताकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥६१॥(पू०पक्ष)

प्रत्येक पदार्थ जो प्रत्यक्ष से ग्रहण किया जाता है—उनमें तीन बातें एक साथ मालूम होती हैं (१) व्यक्ति (२) आकृति (३) जाति। अब यह सन्देह होता कि ये तीनों एक ही है या भिन्न-भिन्न क्योंकि जब हम किसी गौ को देखते हैं तो उसके देह, रूप और जाति इन तीनों का ज्ञान होता है। अब प्रश्न यह होता है कि देह का नाम गौ है या आकार था जाति का या तीनों का मिलाकर। अब इसकी विशेष व्याख्या करते हैं—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानुबन्धनां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥६२॥ (पू० पक्ष)

व्यक्ति ही एक पदार्थ है क्योंकि शब्दादि का व्यवहार उसी में

देखा जाता है। शब्द=गौ जाती है, समूह=गौओं का समूह, त्याग=गौका दान, ग्रहण=गौका लेना, संख्य=१० गावे, बृद्धि=गौ मोटी है, उपचय= गौ दुबली है, वर्ण=काली या धौली गौ, समास=गौ बैठती है, अनुबन्धन गौ का मुख—इन सब व्यवहारों का उपहार (प्रयोग) व्यक्ति में ही देखा जाता है। इनका सम्बन्ध आकृति और जाति से नहीं है, अतः व्यक्ति ही पद का अर्थ है। अब इस पर वादी आक्षेप करता है—

न तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥ [पूर्वपक्ष]

अनवस्थः दोष के होने से व्यक्ति कोई पदार्थ नहीं। क्योंकि व्यक्ति बिन आकृति और जाति के रह नहीं सकती। गौ जाती है इत्यादि प्रयोगों में आकृति और जाति सहित व्यक्ति का ग्रहण है। किसी विशेष व्यक्ति से तात्पर्य्य नहीं है। यदि आकृति और जाति को छोड़ दिया जावे तो फिर गौत्व नहीं रहता। इसलिये पदार्थ जाति है, न कि व्यक्ति। जब पदार्थ जाति है तो फिर व्यक्ति उस का उपचार क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—

सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधना-ऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्च कटराज-शक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटकान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६४ ॥ [पूर्वपक्ष]

जैसे सहचरण में यष्टि से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में मञ्च से मञ्चस्थ पुरुष, तादर्थ्य में कट से तृणविशेष, वृत्त में यम से राजा, मान में सेर भर सत्तू से उतने तोल के सत्तू धारण में तुला चन्दन से तुला में धरा चन्दन, सामात्य से—गङ्गातीर, योग में काले वस्त्र से काले वस्त्र, साधन में—अन्न से प्राण और आधिपत्ये में कुल या गोत्र शब्द से उस कुल का मुख्य पुरुष ग्रहण किया जाता है। ऐसे ही लक्षण से जाति का व्यक्ति में उपचार किया जाता है। अतएव गौ शब्द से गौत्व का ही ग्रहण करना चाहिए। अब आकृति वादी आकृति को ही पदार्थ कहता है:—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्वव्यंवस्थानसिद्धेः ॥६५। (पू० पक्ष)

पदार्थों के सम्बन्ध और जाति का निर्णय करने के वास्ते आकृति ही मुख्य साधन है, क्योंकि बिना आकृति के यह मनुष्य है, यह अश्व है, यह.वृक्ष है इत्यादि जाति का निर्वारण नहीं हो सकता इसलिये आकृति ही पदार्थ है।

प्र०—आकृति और व्यक्ति में भेद क्या है ?

उ०—व्यक्ति द्रव्य है और आकृति गुण। प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की आकृति होती है जिससे उसकी जाति का पता लगता है अर्थात् आकृति की समता ही जाति का लक्षण है। अब जातिवादि फिर अपने पक्ष का स्थापन करता है -

व्यक्तयाकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवकेजातिः ६६

मिट्टी की गाय में व्यक्ति और आकृति दोनों हैं, परन्तु उसका दूध निकालो या उसे पानी पिलाओ यह कोई नहीं कहता। यदि केवल आकृति या व्यक्ति से पदार्थ का ग्रहण होता तो 'गौ लाओ" यह कहने पर कोई मिट्टी की गाय को भी ले आता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि केवल जाति ही पदार्थ है।

प्रश्न--यदि आकृति और व्यक्ति का जाति से कुछ सम्बन्ध न माना जावे तो गाय और गधे में भेद क्योंकर होगा ?

उ०---आकृति और व्यक्ति तो प्रत्येक भौतिक पदार्थ में रहती है, चाहे वह अश्व हो या वृक्ष इसलिए आकृति और व्यक्ति से जाति का निर्णय नहीं होता, किन्तु लक्षण और धर्म से होता है, जिस पदार्थ में जिस जाति के लक्षण या धर्म पाये जांय उसकी वही जाति है।

प्र०--लक्षण और गुण भी तो व्यक्ति और आकृति में ही रहेंगे ?

उ०--यदि व्यक्ति और आकृति से लक्षणों का ज्ञान होता तो मिट्टी की गाय से सब काम चल जाते क्योंकि गाय किसी व्यक्ति और

आवृत्ति तो उस में भी है। अब आकृति वादी कहता है—

नाऽऽकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वज्जात्यभिव्यक्तेः ॥६७॥ (पूर्वपक्ष)

बिना आकृति और व्यक्ति के जाति का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जब हम किसी गाय को देखते हैं तो हमें सिवाय उसकी आकृति और स्थूल शरीर के कोई वस्तु नहीं दीखती, इसलिये जाति के जो व्यक्ति कोई वस्तु नहीं तो जाति भी कोई वस्तु नहीं इसलिये यह बात विचारणीय है कि आकृति कोई पदार्थ है या शरीर कोई पदार्थ है क्योंकि इनमें से एक की सत्ता के लिये दूसरे का होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति को न माना जावे तो आकृति किस की होगी? क्योंकि आकृति व्यक्ति की होती है बिना आकृति के पदार्थ विवेक नहीं होगा।

प्रश्न—यदि हम आकृति और व्यक्ति को पदार्थ मान लें, जाति को कुछ न मानें तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—यदि जाति कोई वस्तु न हो तो एक जगह पर घड़ा देखने से दूसरी जगह फिर घड़े का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि जब घटत्व जो घट की जाति है, एकसी दीखती है तब एक घट को देखकर यह कहने से कि घट लाओ उस समय घट लाया जाता है यदि घटत्व कोई वस्तु नहीं तो केवल शब्द मात्र के कहने से कोई भी घट नहीं ला सकता। यदि ऐसा कहो कि घट की आकृति से ज्ञात हो जावेगा कि इस आकृति वाली और इतनी लम्बी वस्तु का नाम घट है तो उसके कहने से ही जाति सिद्ध हो गई।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि यह तीनों पृथक हैं।

उ०—क्योंकि इनके लक्षणों से ही इनकी सत्ता पृथक मालूम होती है इसलिए इन तीनों को एक मानना ठीक नहीं। इनके लक्षणों पर ठीक-ठीक विचार करने से यह पृथक ही प्रतीत होती है। घड़े में घड़ापन है, वही हमको उसके घड़े होने का ज्ञान कराता है। अब आचार्य

अपना मत प्रकट करते हैं—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥ [पूर्वपक्ष]

व्यक्ति आकृति और जाति ये तीनों मिलकर ही पद के अर्थ को प्रकाश करते हैं, अलग २ नहीं यह बात दूसरी है कि इनमें कहीं व्यक्ति प्रधान हो, कहीं आकृति और कहीं जाति, वस्तु की सत्ता के प्रसङ्ग में व्यक्ति भेद के प्रसंग में आकृति और कहीं अभेद के प्रसंग में जाति प्रधान होगी। अब सूत्रकार व्यक्ति का लक्षण करते हैं:—

प्रश्न—व्यक्ति किसे कहते हैं ?

व्यक्तिर्गुणविशेषाऽऽश्रयो मूर्त्ति ॥ ६९ ॥ [उ० पक्ष]

जिसमें गुरुत्व, कठिनत्व, द्रव्यत्व आदि गुण विशेष हों ऐसे मूर्तिमान् द्रव्य संघात को व्यक्ति कहते हैं। गुणाश्रय आत्मा, आकाश काल आदि अमूर्तिमान् द्रव्य भी हैं, परन्तु सूत्र में मूर्ति का विशेषण देने से उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। अब सूत्रकार आकृति का लक्षण कहते हैं—

आकृतिर्जातिलिङ्गाऽऽख्या ॥ ७० ॥ [उ० पक्ष]

जिससे जाति के चिन्ह प्रकट होते हैं, वह आकृति है अर्थात् आकृति ही जाति को बतलाती है, जैसे मनुष्य की आकृति को देखकर मनुष्य जाति का ज्ञान होता है और वह व्यक्ति के अंगों की बनावट और उसके स्वरूप से पहचानी जाती है। अब सूत्रकार जाति का लक्षण कहते हैं।

समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः ॥ ७१ ॥ [उ० पक्ष]

जो भिन्न २ पदार्थों में समता का भाव है या जिनकी उत्पत्ति (बनावट) एक जैसी हो, वह जाति है और वह आकृति और बनावट की समता जानी जाती है।

प्रश्न—जाति कै प्रकार की है?

उत्तर—दो प्रकार की। एक सामान्य और दूसरी विशेष। जैसे मनुष्य जाति सामान्य है, उसमें ब्राह्मण, क्षत्रियादि या श्वेत कृष्णादि या देश भेद या धर्म भेद और आचार भेद ये विशेष या अवान्तर जातियाँ बनती हैं। प्रमाण और जाति की परीक्षा समाप्त हुई।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् २ ॥



अथ तृतीयोऽध्यायः प्रथमाह्निक।

दूसरे अध्याय के तीसरे आन्हिक में प्रमाणों की परीक्षा तो हो चुकी। अब प्रमेयों की जों प्रमाणों से परखे जाते हैं, परीक्षा आरम्भ की जाती है। प्रमेयों में पहला और मुख्य आत्मा है, इसलिये सबसे पहले उसी की परीक्षा आरम्भ की जाती है। प्रथम यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या देहेन्द्रिय बुद्धि आदि के संघात का नाम ही आत्मा है या आत्मा इनसे कोई भिन्न पदार्थ है।

प्रश्न—यह संदेह क्यों हुआ ?

उत्तर—दो प्रकार का व्यपदेश होने से।

प्रश्न—व्यपदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसमें कर्ता क्रिया और कारण का सम्बन्ध वर्णन किया जावे।

प्रश्न—वह दो प्रकार का व्यपदेश क्या है ?

उत्तर—पहला अवयव से अवयवी का व्यपदेश होता है जैसे कहा जावे कि जड़ से वृक्ष की स्थिति है या स्तम्भो से मन्दिर स्थित है इत्यादि। दूसरा अन्य का व्यपदेश होता है जैसे कुल्हाड़ी से काटता है, दीपक से देखता है इत्यादि। आत्मा के लिये जो यह कहा जाता है कि आंख से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से सोचता है और देह से सुख दुःख भोगता है वह व्यपदेश पहले प्रकार का है या कि दूसरे प्रकार का है तो देहादि आत्मा के अङ्ग हैं और यदि दूसरे प्रकार का है तो उनसे भिन्न है। अब आगे यह सिद्ध किया जायगा कि आत्मा में दूसरे प्रकार का व्यपदेश सिद्ध होता है। प्रथम इन्द्रिय चैतन्यवादियों का खण्डन करते हैं—

२. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ [उत्तरपक्ष]

जिस वस्तु को आँख से देखते हैं, उसी को हाथ से उठाते या त्वचा से स्पर्श करते हैं और कहते हैं कि जिसको हमने आँख से देखा था, उसी को त्वचा से स्पर्श करते हैं, या जिसको स्पर्श किया था, उसको आँख से देखते हैं। नीबू को देखकर जिह्वा में पानी भर आता है, यदि इंद्रिय ही ज्ञाता होते तो ऐसा कभी नहीं हो सकता था, क्योंकि और के देखे का और को कभी स्मरण नहीं हो सकता, फिर आँख के देखे हुये विषय का जिह्वा से या त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो आँख से देखकर फिर उसी अर्थ का त्वचा या रसना से ग्रहण करता है, वह ग्रहीता इन इन्द्रियों से पृथक है। अतः इस पर शङ्का करते हैं:—

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ (पूर्व पक्ष)

इंद्रिय संघात के अतिरिक्त और कोई चेतन आत्मा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के विषय नियत हैं। आँख के होने से रूप का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता और यह नियत है कि जो जिसके होने से हो और न होने से न हो, वह उसी का कार्य्य समझा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि रूप को देखना आँख का काम है। गन्ध को सूँघना नाक का काम है। अतएव प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय के ज्ञान में स्वतन्त्र है, क्योंकि उसके होने से उसका ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। इस दशा में इन्द्रियों के अतिरिक्त किसी चेतन आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है? अब इसका समाधान करते हैं:—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥३॥ (उत्तर पक्ष)

यदि प्रत्येक इन्द्रिय सब विषयों के जानने में निरपेक्ष स्वतन्त्र होता या सब मिलकर ही सर्वज्ञ होते तो कौन उससे भिन्न चेतन का अनुमान करता? जब कि प्रत्येक विषय के वास्ते नियत है, अपने विषय के सिवाय वह दूसरे विषय का ज्ञान कराने में असमर्थ है। इसी से तद्भिन्न चेतन आत्माका अनुमान किया जाता है। इन्द्रिय भिन्नों

के सदृश अपना-अपना काम करते हैं, इससे नियत काम लेने वाला कोई अध्यक्ष स्वामी) है, जो इन से काम लेता है, ये उसके कारण मात्र हैं। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय या सब इन्द्रियों के विकृत हो जाने पर भी देह स्थित रहता है, यदि इन्द्रिय ही चैतन्य होते तो उनके न रहने पर देह का भी अवसान हो जाना चाहिये था। यदि इन्द्रियों के अतिरिक्त और कोई आत्मा न होता तो सब को यह ज्ञान होना चाहिये था कि "मैं" आंख हूँ परन्तु कोई ऐसा नहीं समझता,प्रत्युत सब यही कहते हैं कि "मेरी आंख है, मेरा कान है" इत्यादि । इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है इसके अतिरिक्त जिस विषय को हमने आज देखा है दश वर्ष के बाद फिर हम उसका स्मरण करते हैं और वह हमको प्रत्यक्ष-सा मालूम देता है । यदि इन्द्रिय ही चैतन्य होते तो ऐसा नहीं हो सकता था । इन कारणों से सिद्ध है कि आत्मा इन्द्रिय संघात से प्रथक् है। अब देहात्मवादियों का खंडन करते हैं:—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥ (उत्तरपक्ष)

यदि देह से भिन्न कोई आत्मा न होता तो मृत देह को जलाने में पाप होना चाहिए परन्तु मुर्दे को जलाने या दबाने में कोई पाप नहीं मानता न मुर्दे को जलाने वाला दण्डनीय समझा जाता है। इसके अतिरिक्त जब देह ही चेतन है, तो उसके न रहने पर पाप और पुण्य कुछ भी न रहेंगे। पाप पुण्य के अभाव में किसी को दुःख और किसी को सुख न होना चाहिए । यदि कहो बिना पाप-पुण्य के भी केवल ईश्वर का की इच्छा या कर्म के कारण दुःख सुख हो सकता है तो यह सर्वथा असंगत है, क्योंकि इसमें कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष आता है। जिस शरीर ने पाप किये थे,वह नाश हो गया, अब उसको किस प्रकार पाप का फल मिल सकता है और जिस शरीर ने अभी कोई पाप नहीं किया,उसको विना अपराध क्यों दुःख मिलता है ? यह बात सर्वथा श्रुती और युक्ति के विरुद्ध है कि जिस ने पाप किया, उसको फल

न मिले और जिसने पाप नहीं किया, उसको फल मिले यदि कहो कि देहात्मवादी पाप पुण्य को नहीं मानते, तो देह की रक्षा और विनाश से लाभ हानि तो मानते हैं । बस उस देह (आत्मा) के नाश से जो हानि होगी, वह पाप है । इसलिये आत्मा देह से भिन्न है । अब इस पर शङ्का करते हैं:—

तद्भावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्य वात् ॥५॥ [पूर्व पक्ष]

यदि तुम कहो कि शरीर को आत्म मानने से शरीर के जलाने से हिंसा होना चाहिये और हिंसा होती नहीं, अतः आत्मा शरीर से पृथक है जब वह निकल जाता है तो शरीर को जलाने में पाप नहीं होता । वादी कहता है, जब तुम आत्मा को नित्य मानते हो तो उसे हिंसारूप पापँ का अभाव सजीव शरीर को जलाने में भी होना चाहिये क्योंकि तुम्हारे मत में आत्मा तो नित्य है, उसकी कोई हिंसा हो ही नहीं सकती, तो हिंसा का पाप क्यों कर हो सकता है ? अतएव दोनों दशाओं में आपत्ति है । देह को आत्मा मानने से तो हिंसा निष्फल हो जाती है और आत्मा को देह से भिन्न मानने में हिंसा हो ही नहीं सकती । अब इसका समाधान सूत्रकार करते हैं:—

न कार्य्याऽऽश्रयकर्तृवधात् ॥६॥ [उत्तरपक्ष]

हम नित्य आत्मा के नाश को हिंसा नहीं कहते, किन्तु नित्य आत्मा जिस शरीर और इन्द्रियों के साथ मिलकर काम करता है उनके अपघात को हिंसा कहते हैं । इसलिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता ।

प्रश्न—कर्त्ता सदा स्वतन्त्र है और तुम शरीर के सहारे आत्मा का कम कार्य मानते हो तो आत्मा स्वतन्त्र कैसे है ?

उत्तर—आत्मा करने में स्वतन्त्र है शरीर में बैठकर सुख दुःख अनुभव करता है शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता प्रत्युत उस के काम में बाधा होती है इसलिये आत्मा सहित शरीर के जलाने में

हिंसा होती है। आत्मा के निकल जाने पर हिंसा नहीं होती।

प्रश्न—क्या कारण है कि आत्मा के निकल जाने पर हिंसा नहीं और मौजूदगी पर जलाने से हिंसा होती है जब कि दोनों दशाओं में आत्मा को कुछ हानि नहीं।

उत्तर—जब कोई स्वयं कपड़ा उतार कर फेंक दे तो उसका उठाने वाला अपराधी नहीं होगा और बलात्कार से उतार ले तो वह अपराधी होता है यद्यपि दोनो दशाओं में कर्त्ता के कर्म का प्रभाव कपड़े पर पड़ा। कारण यह है जीव का सम्बन्ध अहङ्कार के साथ होता है जिसको आत्मा अपना नहीं समझता उसके चले जाने में उसे कोई दुःख नहीं। जीव की उपस्थिति में उसके जलाने में दुःख होता है। जिसको दुःख हो वही पाप है।

प्रश्न—जब कि शरीर के नाश से आत्मा को कुछ हानि नहीं पहुँचती और वह उस शरीर से निकल कर दूसरे में चला जाता है तो उसकी हिंसा से पाप क्यों होता है और उसको उस शरीर के छोड़ने में दुःख क्यों होता है?

उत्तर—जिस शरीर में आत्मा रहता है, उसको अहङ्कार के कारण वह अपना समझता है इसलिये उससे उसको एक प्रकार का अनुराग होता है उस अनुराग के कारण उस शरीर को छोड़ने में दुख मानता है, अतएव आत्मा को शरीर से वियुक्त करने का ही नाम हिंसा या मृत्यु है न कि आत्मा के नाश का। आत्मा के देह से भिन्न होने में एक हेतु और देते हैं:—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ [उत्तर पक्ष]

जिसको बांई आँख से देखा हो उसका दांई से प्रत्यभिज्ञान होता है इससे सिद्ध है कि आत्मा देह से भिन्न है।

प्रश्न—प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—पहले और पिछले ज्ञान को एक विषय में मिलाने का

नाम प्रत्यभिज्ञान है। जब किसी वस्तु को पहले बांई आँख से देखा हो अब उसको दांई आँख से देखकर यह ज्ञान होता है कि यह वही वस्तु है जिसको पहले मैंने बाँई आँख से देखा था। यदि देह से भिन्न कोई आत्मा न माना जावे तो प्रत्यभिज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि अन्य के देखेष्का अन्य को स्मरण नहीं होता। अब इस पर आक्षेप करते हैं:-

नैकस्मिन्नासाऽस्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥८॥ (पू०प०)

यह समझना कि बांई और दांई दो आँखें हैं, ठीक नहीं क्योंकि आँख केवल एक ही है। नाक की हड्डी के बीच में आ जाने से दो मालूम होती है, जैसे किसी तड़ाग में पुल बाँध देने से दो तड़ाग नहीं हो जाते ऐसे ही नाक की हड्डी के बीच में आजाने से दो आंख नहीं हो सकती। इसलिये जो युक्ति आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध करने के लिये दी गई, वह ठीक नहीं अब इसका उत्तर देते हैं:—

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥ (उ०पक्ष)

यदि आँख दो नहीं, (जैसा कि वादी ने कहा है) तो एक के नाश होने पर दूसरी का भी नाश हो जाता. परन्तु ऐसा नहीं होता एक आँखके नष्ट हो जाने पर दूसरी बराबर रहती है और उससे काम लिया जाता है इसलिए आंख एक नहीं। अब वादी पुनः शङ्का करता है—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥१०॥ (पूर्वपक्ष)

दो आँखो की सिद्धि में एक आँख के नष्ट होने पर दूसरी के शेष रहने की जो युक्ति दी गई है वह ठीक नहीं क्योंकि किसी वस्तु के एक भाग के नष्ट होने से उस वस्तु का सर्वनाश नहीं होता जैसे वृक्ष की शाखाओं के कट जाने से भी वृक्ष का नाश नहीं होता। इसलिए आँख एक ही है उसके एक अवयव का नाश होने से अवयवी का नाश नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं—

दृष्टांतविरोधादप्रतिषेधः ॥११॥ (उत्तरपक्ष)

वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि वृक्ष अवयवी है। शाखायें उसके अवयव हैं इस प्रकार एक आँख दूसरी आँख का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों किसी अवयवी का अवयव हैं यदि आँख एक होती तो एक में सुर्खी या रोये होने से दोनों में सुर्खी या रोये होने चाहिये, एक में दृष्टि रोग से दूसरी में भी होनी चाहिये क्योंकि ऐसा नहीं होता इससे आँख दो ही हैं इस दृष्टान्त विरोध से उनका एक होना सिद्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त नाक की हड्डी निकाल ने पर भी दोनों आँखों के गोलक भिन्न-भिन्न दृष्टि पड़ते हैं। जिनसे दो आँखों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है जब आँखे दो सिद्ध होगईं तब एक के देखे हुए अर्थ की दूसरी से प्रत्यभिज्ञान का होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञान का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है वही चेतन आत्मा है। फिर उसी की पुष्टि करते हैं:--

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥१२॥ (उत्तरपक्ष)

प्रायः स्थलों पर किसी पके हुए फल को देखते ही मुँह में पानी भर आता है इससे भी मालूम होता है कि स्मरण करने वाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है जिसको फल देखते ही उसका स्वादु स्मरण होकर मुंह में पानी भर आया। यदि इन्द्रियों को ही निरपेक्ष अपने अपने विषयों का ज्ञान माना जावे तो आँख के देखने से मुंह में पानी भर आना नहीं हो सकता, क्योंकि कोई इंद्रिय दूसरे इंद्रिय के विषय को नहीं जान सकता और न आँख के देखने से रसना को उसका ज्ञान हो सकता है। अब वादी पुनः आक्षेप करता है:—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥१३॥ (पूर्व पक्ष)

किसी गुजरी हुई बात को स्मरण करना स्मृति का धर्म है, क्यों कि स्मर्तव्य जितने विषय हैं, वे स्मृति में आते ही रहते हैं। और यह कोई नियम नहीं, है कि पहिले जिस इन्द्रिय से जो ज्ञान हुआ हो, फिर

उसी इन्द्रिय के द्वारा उसका स्मरण भी हो। जिस वस्तु का एक बार प्रत्यक्ष हो चुका है। चाहे वह किसी इन्द्रिय के द्वारा हो) उसी की मूर्ति होती है, अप्रत्यक्ष को नहीं। इसके लिये इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है ? अब उसका समाधान करते हैं:-

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ४१ ॥ (उत्तरपक्ष)

स्मृति आत्मा का गुण है, न कि किसी इन्द्रिय का। यदि इन्द्रियों का गुण स्मृति होता तो किसी एक कर्त्ता के न होने से विषयों का प्रतिसन्धान नहीं हो सकता था अर्थात् एक इन्द्रिय से जिस विषय का ज्ञान हुआ, दूसरा इन्द्रिय उसके स्मरण हेतु क्योंकर हो सकेगा ? यदि स्मर्त्तव्य विषय की ही स्मृति का कारण माना जावे तो मृत देह में स्मृति क्यों नहीं उत्पन्न होती। जब कि उस में इन्द्रिय भी मौजूद हैं और स्मृर्त्तव्य विषय भी सन्मुख है, फिर स्मृति का बाधक कौन है ? इससे सिद्ध है कि स्मृति केवल आत्मा का गुण है स्मृर्त्तव्य विषय उसके उद्बोधक अवश्य हैं, परन्तु उसका आधार केवल आत्मा है बिना आत्मा के स्मृति और किसी पदार्थ में नहीं रह सकती। इस के अतिरिक्त "मैं स्मरण करता हूं" यह प्रत्यक्ष भी जो मनुष्य को होता है स्मृति का आत्म गुण होना सिद्ध करता है। इस पर और भी हेतु देते हैं :-

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥ (उत्तरपक्ष)

वादी ने यह जो कहा था कि कर्त्तव्य विषय ही स्मृति का कारण है, यह ठीक नहीं क्योंकि स्मर्त्तव्य विषय असंख्या हैं इसलिये वे स्मृति कारण नहीं हो सकते।

प्रश्न—स्मृति विषय किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्मृति चार प्रकार की है (१) मैंने इस पदार्थ को जाना (२) मैं इस का जानने वाला हूं (३) मुझ से यह पदार्थ जाना गया, (४) मुझे यह ज्ञान हुआ, यह जो चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है यही

स्मृति का मूल है इन चार प्रकार की स्मृति में सर्वत्र ज्ञान का सम्बन्ध, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों से है। यह ज्ञान न तो बिना ज्ञाता के रह सकता है और न अनेक ज्ञाताओं से इसका सम्बन्ध है किन्तु एक ही ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों के अनुरोध से सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान है। "मैंने इस बात को जाना, मैं इस बात को जानता हूं और मैं इस को जानूंगा" इन तीनों कालों के ज्ञान का प्रतिसन्धान यदि ज्ञाता न हो तो नहीं हो सकता यदि इसको केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जावे प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं,दूसरे कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान को अपने मनमें धारण कर सके। बिना ज्ञाता के संस्कार से "मैं और मेरा" यह ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव स्मृति विषय के अपरिसंख्येय–और आत्माश्रित होने से ज्ञान का कारण स्मर्त्तव्य विषय नहीं हो सकते। इस पर वादी पुनः शङ्का करता है:—

नाऽऽत्मप्रतिपत्ति हेतूनां मनसि सम्भवात् ॥१६॥ (पू०प०)

जो हेतु तुमने आत्मा की सिद्धि में दिये हैं, उनसे मन की सिद्धि होती है, न कि भिन्न २ अर्थों का ज्ञान या एक अर्थ का ज्ञान और फिर उनका प्रतिसन्धान यह सब काम मन करता है, जैसे दर्शन स्पर्शन से जो एक प्रकार का ज्ञान होना आत्मा की सिद्धि में बताया है वह मन की सिद्धि करता है फिर देहादि से भिन्न आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान करते हैं :—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥१७॥ (उ० प०)

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक कारण कर्त्ता की सहायता के लिए होता है, यदि कर्त्ता न हो तो कारण मिल कर भी कोई काम नहीं कर सके इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के जितने साधन हैं वे सब ज्ञाता की सहायता के लिये हैं जैसे आंख से देखता है, नाक से सूंघता है, त्वचा से स्पर्श करता है, मन से सोचता है इत्यादि। आंख आदि मन भी एक ज्ञान साधन है,

जिसको अन्तःकरण भी कहते हैं, वह ज्ञान की उपलब्धि में मन का साधन है न कि बाधक। यदि मन को ही चेतन माना जावे, करण न माना जावे तब भी केवल संज्ञा भेद मात्र होगा, अर्थ भेद नहीं, अर्थात् जिसको हम आत्मा कहते हैं, उसको तुम मन कहते हो, मन के स्थान कोई और नाम कल्पित करना पड़ेगा। परन्तु इससे उस सिद्धान्त में कि "देहादि संघात से आत्मा पृथक है" कोई हानि नहीं होती। इस पर एक हेतु और भी देते हैं :—

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥ (उत्तर पक्ष)

यदि कोई कहे कि रूपादि के ग्रहण करने वाले चक्षुरादि इन्द्रिय तो अवश्य हैं। परन्तु सुखादि के अनुभव करने वाले मन या अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं यह बिना किसी कारण के ही उपलब्ध होते हैं ऐसा नियम बाँधना अनुमान के विरुद्ध है। क्योंकि इसमें तो किसी को सन्देह नहीं कि रूपादि से पृथक सुखादि विषय हैं उनके जानने के लिए भी कारण का होना आवश्यक है जैसे आँख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता उसके लिए दूसरा इन्द्रिय घ्राण मानना पड़ता है, और आँख नाक दोनों से रस का ज्ञान नहीं होता इसलिए उसके लिए तीसरा इन्द्रिय रसना को मानना पड़ता है। ऐसे ही आँख आदि पाँचों इद्रियों से सुखादि का ज्ञान नहीं होता, तब उसके लिए मन अन्तः करण की आवश्यकता क्यों नहीं? सारे इन्द्रिय मन से सम्बन्ध रखते हैं वही कारण है कि एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जब जिस इन्द्रिय के साथ उसका संयोग होता है तभी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए पूर्व आत्मा सिद्धि के लिए जो हेतु दिये गये हैं, वे मन कदापि नहीं घट सकते। अब उस आत्मा के विषय जिसको देहादि संघात से पृथक सिद्ध किया है, यह सन्देह उत्पन्न होता है कि वह नित्य है या अनित्य? अगले सूत्र में आत्मा का नित्यता सिद्ध करते हैं :—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्पतिपते: ॥ १६ ॥ (उत्तर पक्ष)

पहले जन्म के अभ्यास से जो सद्योजात बालक के हृदय में हर्ष भय और शोक उत्पन्न होते हैं, उससे जीवात्मा का जन्म से पूर्व होना सिद्ध होता है। क्योंकि इस जन्म में तो उसने इन के कारणों को अनुभव ही नहीं किया। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं हो सकती। जब अभी तक उसने सुख दुःख या भय के कारणों को अनुभव ही नहीं किया तो उस पर इनका प्रभाव क्यों पड़ता है? इसका कारण सिवाय पूर्व जन्म के अभ्यास के और कोई नहीं हो सकता अतएव आत्मा नित्य है। अब इस पर शङ्का करते हैं:–

प्रश्न—क्या आत्मा उत्पन्न हुआ है ?

उत्तर—आत्मा की उत्पत्ति मानने वालों से यह प्रश्न होता है कि आत्म शरीर के साथ उत्पन्न हुआ या पूर्व या बाद को यदि कहो शरीर से पूर्व हुआ तो उसका उपादान कारण क्या है प्रत्येक उत्पत्तिमान् द्रव्य का उपादान कारण अवश्य होता है यदि कहो शरीर के साथ उत्पन्न होता है तो पूर्वोक्त शोक हर्ष नहीं हो सकते। अतः आत्मा अनादि है।

प्रश्न—बिना उपादान कारण के कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता यह विचार ठीक नहीं जिस प्रकार गुरु के उपदेश से शिष्य को ज्ञान होता है उसी प्रकार बिना उपादन कारण के आत्मा को उत्पन्न होता है ?

उत्तर–यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान गुण है जो अपने गुणी से दूसरे में जाता है परन्तु आत्मा द्रव्य है कोई ऐसा उदाहरण दो जहाँ द्रव्य बिना उपादान के उत्पन्न हो द्रव्य में गुण, कर्म उपादान होने की शक्ति है।

पद्माऽऽदिषुप्रबोधसम्मीलन विकारवत्तद्विकारः ॥२०॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे अनित्य कमल के फूल में प्रबोध (खिलना) सम्मीलन

(बन्द होना) आदि विकार स्वाभाविक हैं, ऐसे सद्यजात बालक में भी हर्ष, भय, शोक स्वाभाविक रीति पर उत्पन्न होजाते हैं, इस दशा में पूर्व जन्म के मानने की कोई आवश्यकता नहीं अब इसका समाधान करते हैं—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मक विकाराणाम् ॥२१॥ [उ० पक्ष]

जो कमल के फूल का दृष्टांत आत्मा से दिया है, वह ठीक नहीं क्योंकि फूल आदि पञ्चभूतों का विकार है, इनमें उष्ण, शीत और वर्षा ऋतुओं के कारण विकार उत्पन्न होते हैं,आत्मा भौतिक नहीं है, जो काल का प्रभाव उस पर पड़ सके। इसलिए यह दृष्टांत ठीक नहीं अथवा पद्मादिकों में भी प्रबोधादि विकार निर्मित नहीं, सर्दी, गर्मी और वर्षा आदि का होना ही उनका निमित्त है, इसी प्रकार आत्मा के हर्ष शोकादि का निमित्त पूर्वाभ्यास संस्कार है। जैसे बिना सर्दी गर्मी आदि निमित्तों के पद्मादि में प्रबोधादि विकार नहीं हो सकते, वैसे ही बिना पूर्वाभ्यस्त संस्कारों के तत्काल जन्मे बालक में हर्ष शोकादि भी नहीं हो सकते। अतएव आत्मा नित्य है, इसी पुष्टि दूसरा हेतु देते हैं—

प्रेत्याऽऽहाराभ्यासकृतात स्तन्यभिलाषात् ॥२२॥(उ०पक्ष)

जन्म लेते ही बालक माता के स्तन को चूसने लगता है इससे अनुमान होता है पहले जन्म के संस्कार, उसको दूध पीना सिखला देते हैं, अन्यथा जब तक जीव को कोई बात सिखलाई न जावे तब तक उसको उसका ज्ञान नहीं होता। जैसे हम लोग इस जन्म के अभ्यास से भूख लगने पर खाना खाते हैं,ऐसे ही उत्पन्न हुआ बालक पूर्व जन्म के अभ्यास से दूध पीता है, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उसने अभ्यास किया ही नहीं।

प्रश्न—क्या जीव को बिना अभ्यास के स्वयमेव किसी काम के

करने का ज्ञान नहीं होता, सब बातों के सीखने की आवश्यकता होती है ?

उत्तर—जीवात्मा को दो ही प्रकार से ज्ञान होता है, या तो प्रत्यक्ष से या स्मृति से, इनके सिवाय किसी बात को बिना सीखने के नहीं जान सकता।

प्रश्न—अनुमानादि से भी तो बिना सीखने के ज्ञान होता है, फिर कैसे कहते हो कि बिना प्रत्यक्ष या स्मृति के ज्ञान नहीं होता ?

उ०—अनुमान तो प्रत्यक्ष का ही शेष है और शब्द दूसरे से जाना जाता है, इसलिए वह शिक्षा के अन्तर्गत है।

प्र०—जब कि हम पूर्व जन्म को ही नहीं मानते तो पूर्व जन्म के अभ्यास को (जो अभी साध्य पक्ष में है) हेतु ठहराना साध्यसमहेत्वाभास है।

उ०—पूर्व जन्म को हमने हेतु में नहीं रक्खा है तो जन्म लेते ही बालक दूध पीने लगता है जिससे कोई नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। हाँ इस हेतु से साध्य पूर्व जन्म की सिद्धि अवश्य होती है। वादी फिर आक्षेप करता है—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥२३॥ (पू० पक्ष)

जैसे चुम्बक पत्थर अभ्यास के बिना ही लोहे का अपनी तरफ खींचता है, उस लोहे में न तो स्मृति है और न पूर्वाभ्यास। ऐसे ही बालक भी बिना स्मृति और अभ्यास के दूध पीने लगता है। इसलिये यह हेतु के बिना पूर्वाभ्यास के भोजन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती ठीक नहीं अब इसका उत्तर देते हैं—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥ (उ० पक्ष)

लोहे और चुम्बक का दृष्टांत ठीक नहीं, क्योंकि लोहे का चुम्बक के पास सरकाना भी किसी कारण से है, यदि इसमें कोई कारण न होता तो मिट्टी पत्थर आदि भी लोहे के पास सरक जाते। यह नियम है

कि लोहा चुम्बक को ही अपनी ओर आकर्षण करता है, अन्य किसी को नहीं इनके विशेष सम्बन्ध रूप निमित्त को सूचित करता है । बस ऐसे ही बालक की दूध पीने में प्रवृत्ति भी अकारण नहीं है अब रही यह बात कि वह कारण क्या है? प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जीवन को भोजन में प्रवृत्ति में पूर्वाभ्यास्त आहार की स्मृति से होती है, इससे आत्मा का नित्य होना सिद्ध है । अब इसकी पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥ [उत्तरपक्ष]

आत्मा के नित्य होने में दूसरा कारण यह भी है कि रागानुबद्ध जीव ही जन्म लेता है । वीतरागनहीं । रागजन्म का कारण है और यह विना पूर्वाभ्यास्त संस्कारों के हो नहीं सकता । वह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये विषय को स्मरण करता हुआ उनमें रक्त होता है और यही जन्म का कारण है । तत्वज्ञान के निरंतर अभ्यास से जब रोग की वासनायें समूल नष्ट हो जाती हैं तब कारण के अभाव से कार्य उन्मादि का भी अभाव हो जाता है इसी को मुक्तावस्था कहते हैं इससे भी आत्मा का नित्य होना सिद्ध है । अब इस पर शंका करते हैं:—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥ [पूर्वपक्ष]

जैसे उत्पत्ति धर्म वाले घटादि कार्यों के रूपादि गुण कार्योत्पत्ति के साथ ही आप ही उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे ही उत्पन्न होने वाले आत्मा में रागादि गुणों की उत्पत्ति भी स्वयमेव हो जायगी । इसमें पूर्व संस्कार या स्मृति के मानने की क्या आवश्यकता है? अतएव आत्मा अनित्य है । अब इसका उत्तर देते हैं:—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥ [उत्तरपक्ष]

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान रागादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रागादि संकल्पमूलक हैं । घटादि कार्यों में रूपादि गुण समवाय सम्बन्ध से सदा बनने रहते हैं, परंतु आत्मा में राग सदा नहीं रहता, वह जब पूर्वानुभूत संस्कार या उनकी स्मृति से मन में कोई

सङ्कल्प उत्पन्न होता है, तभी राग या द्वेष की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतएव राग के संकल्प मूलक होने से सगुण द्रव्यवत् उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्म परीक्षा समाप्त हुई। अब दूसरे प्रमेय शरीर की परीक्षा आरम्भ करते हैं। प्रथक शरीर का मुख्य उपादान क्या है? इसका प्रतिपादन करते हैं।

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥ [उत्तरपक्ष];

देह का भौतिक होना तो सर्व सम्मत है, परन्तु पाँचों (पृथिवी अप, तेज, वायु, आकाश) सामान्य रूप से इसका उपादान है, या इनमें कोई विशेष है? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं। यद्यपि यह देह पंच-भूतात्म है तथापि पृथिवी इसका विशेष रूप से उपादान है। अन्य अप तेज आदि इसके निमित्त कारण हैं उपादान नहीं। इसका कारण यह है कि देहमें जलादि के गुण द्रव्यत्वादि नहीं पाये जाते। पृथिवी के काठिन्य और गंधादि गुण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। अतः यह देह पार्थिव है?

प्रश्न—क्या शरीर में केवल पार्थिव ही परमाणु होते हैं जलादि के नहीं?

उत्तर—पृथिवी में तो पार्थिव प्रधान ही शरीर होते हैं अन्य लोकों में जलादि प्रधान शरीरों का होना माना गया है। यद्यपि संयोग सब भूतों का होता है तथापि पृथिवी में पार्थिवी अंश ही प्रधान है। इसी की पुष्टि में अन्य हेतु भी देते हैं।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥ [उत्तरपक्ष]

श्रुति के प्रमाण से भी शरीर पार्थिव होना सिद्ध होता है वह श्रुति का प्रमाण यह है "सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छातात् पृथिवी ते शरीरम्" इत्यादि। श्रुति में नहीं यह कहा गया है कि सूर्य में तेरी आंख जावे। वहाँ पथिवी शरीर का जाना कहा गया है। कार्य सदा अपने कारण में लीन होता है और इसी को नाश कहते हैं जब शरीर पृथिवी का कार्य

है तो वह नष्ट हो जाने पर अवश्य पृथिवी में मिलेगा, इस श्रुति से तथा भस्मान्त शरीरम्' इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतियों से शरीर का पार्थिव होना सिद्ध है। अब इन्द्रियों की परीक्षा आरम्भ करते हैं। प्रथम इस प्रश्न पर विचार किया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक है व अभौतिक?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥ (पू० पक्ष)

आंख में जो काले रङ्ग की पुतली है, उसके होने पर रूप का ग्रहण होता है न होने पर नहीं इससे मालूम होता है कि यह पुतली ही आंख है और वह पुतली भौतिक है इसलिए आँखका भी भौतिक होना सिद्ध है। एक पक्ष तो यह हुआ दूसरा पक्ष यह है कि आँख की पुतली का जब कुछ व्यवधान फासला होगा तभी उसका ग्रहण हो सकेगा अन्यथा यदि कोई वस्तु आँख की पुतली से मिला दी जाय तो कदापि उसका ग्रहण न हो सकेगा इससे यह मालूम होता है कि यह पुतली तो आँख के भीतर ही रहती है बाहर नहीं जाती, परन्तु रूप का ग्रहण तब होता है जब वृत्ति बाहर निकल कर विषय में तदाकार होजाती है और वह वृत्ती इस पुतली से पृथक है। इससे इन्द्रियों के अभौतिक होने का अनुमान होता है क्योंकि अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण करना भौतिक पदार्थों का काम नहीं। इसलिए यह संशय उत्पन्न होता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं या अभौतिक ? अगले सूत्र में इन्द्रियों को अभौतिक सिद्ध करते हैं-

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (पू० पक्ष)

आंख से छोटे से छोटा और बड़े से बडा पदार्थ भी देखा जाता है इसलिए इंद्रिय अभौतिक है क्योंकि पदार्थों का यह नियम है कि वे जितनी सीमा में होते हैं उनकी शक्ति और प्रभाव उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

प्रश्न—क्या आंख सब छोटे बड़े पदार्थों में व्यापक हो जाती है ?

उत्तर—छोटे से छोटे सरसों के दाने और बड़े से बड़े पहाड़ को इसी आंख से देखते हैं इससे आंखका अभौतिक होना सिद्ध है, क्योंकि यदि पुतली आंख होती तो इतने बड़े पहाड़ को कैसे देख सकती। आक्षेप हो चुके अब इसका समाधान करते हैं।

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात तद्ग्रहणम् ॥३२॥ [उत्तरपक्ष]

चक्षु तैजस इन्द्रिय है, इसलिए उसकी किरणें तेज की किरणों से मिलकर दृश्य वस्तु में व्यापक हो जाती है, जिससे छोटे बड़े पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। दृष्टान्त हम दीपक को दे सकते हैं, दीपक छोटा होता है, परन्तु उसकी ज्योति जहां तक आवरण नहीं होता, वहां तक फैल जाती है, ऐसे ही आंख की पुतली भी यद्यपि छोटी होती है तथापि उसकी ज्योति दूर तक फैल सकती है। यदि आंख अभौतिक होती तो आगे पीछे दायें बायें सब तरफ को देखती और आवरण भी उसकी दर्शन शक्ति को नहीं रोक सकता था। इससे सिद्ध है कि आंख अभौतिक है। अब इस पर शंका करते हैं।

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥३३॥ [पू०पक्ष]

यदि दीपक के समान आंख की भी किरणें होती तो वे दीपक की ज्योति के समान उष्ण तथा प्रकाश उपलब्ध होता। जब किरणों की उपलब्धि ही नहीं होती तब उनका मानना व्यर्थ है। हमको तो गोलक और पुतली के अतिरिक्त आंख में और कुछ नहीं दीखता अतएव यही चक्षु इन्द्रिय हैं। अब इसका उत्तर देते हैः—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३४॥ (उ०प०)

जो वस्तु अनुमान से सिद्ध है, उसका प्रत्यक्ष से न ग्रहण किया जाना। अभाव का कारण नहीं हो सकता। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथिवी का नीचे का भाग हमको नहीं दीखता, परन्तु अनुमान से सिद्ध है इसलिए सब मानते हैं। ऐसे ही आंख की ज्योति यदि प्रत्यक्ष नहीं होती तो अनुमान से तो सिद्ध है। इसलिए उसका अभाव नहीं

माना जा सकता। फिर इसी की पुष्टि करते हैं :—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥३५॥ (उ० प०)

बहुत से द्रव्य ऐसे होते हैं कि जिनका प्रत्यक्ष होता है और बहुत से ऐसे भी होते हैं कि जिनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता, किन्तु वे अपने गुण से पहचाने जाते हैं। जैसे जल और अग्नि के परमाणु किसी को प्रत्यक्ष नहीं दीखते, किन्तु वे अपने शीत या उष्ण स्पर्श से जाने जाते हैं। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष नहीं दीखता, किन्तु अपनी दर्शन शक्ति से पहिचाना जाता है। फिर इसकी पुष्टि करते हैं :—

अनेकद्रव्यसमवायाद् पविशेषाच्चरूपोपलब्धिः ॥३६॥ (उ० प०)

रूप अग्नि का गुण है और वह दो प्रकार का होता है, एक वह जो उद्भूत होने से प्रत्यक्ष होता है दूसरा अनुभूत होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुभव या स्पर्श से जाना जाता है। अनेक द्रव्य जब आपस में मिलते हैं तब उनमें रूप का अनुद्भव रहता है। आंख की किरणें अनुद्भूत रूप है, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुभव या स्पर्श से जाना जाता है। अनेक द्रव्य जब आपस में मिलते हैं तब उनमें रूप का उद्भव रहता है। जब वे अपने कारण रूप में रहते हैं तब उनमें रूप का अनुद्भव रहताहै। आँखकी किरणें अनुद्भूत रूप हैं, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज के परमाणुओं या गुणों में यह देखा जाता है कि कहीं तो रूप और स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है, कहीं केवल स्पर्श की और कहीं इन दोनों की उपलब्धि नहीं होती। जिसमें रूप स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है उसी का प्रत्यक्ष होता है, जैसे सूर्य की किरणों का, जिनमें केवल रूप कि उपलब्धि होती है स्पर्श की नहीं, उसका भी प्रत्यक्ष होता है जैसे दीपक की किरणों का और जिसमें केवल स्पर्श की उपलब्धि होती है, रूप की नहीं, उसका भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे उष्ण जल में स्पर्श से अग्नि का प्रत्यक्ष होता है। जिसमें रूप और स्पर्श दोनों की उपलब्धि नहीं होती, उसका प्रत्यक्ष

नहीं होता, जैसे आंख की किरणों में न रूप है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। आंख की किरणें भी सूर्य या दीपक की किरणों के समान उद्भूत रूप क्यों नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणाँ व्यूहः पुरूपार्थतन्त्रः॥३७॥ (उ० पक्ष)

सब इन्द्रिय जीवात्मा के कर्म फल भोगने के वास्ते बनाये गये हैं और इन्द्रियों की सारी शक्ति जीवात्मा के अधीन हैं। तात्पर्य यह कि शरीर और इन्द्रियगण स्वतन्त्र नहीं हैं, वे जीवों के कर्मफल भोगने के वास्ते साधन बनाये गये हैं। यदि कर्मों का भोग न होता तो शरीर और इन्द्रिय भी न होते।

प्र०—आंख को तेजस क्यों माना जावे, जब कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

उ०—आँख बिना प्रकाश के काम नहीं कर सकती, प्रकाश उसका सहायक है और प्रकाश तेज का धर्म है, इसलिए चक्षु तेजस है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं—

अव्यभिचाच्च प्रतीघातों भौतिकधर्मः ॥३८॥(उ० पक्ष)

बीच में किसी आवरण के आजाने से चक्षु की दर्शनशक्ति रुक जाती है, और आवरण से भौतिक पदार्थ की ही शक्ति का अवरोध हो सकता है, अभौतिक का नहीं, इसलिए चक्षु भौतिक है। यदि आवरण की रुकावट होने से चक्षु को भौतिक मानोगे तो कहीं पर रुकावट न होने से अभौतिक भी मानना पड़ेगा। जैसे कांच या जल का आवरण होते हुए भी चक्षुरश्मि नहीं रुकती। अनुपलब्धिका और भी कारण हैं—

मध्यन्दिल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदब्धिः ॥३९॥ (उ० पक्ष)

जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर तारे नहीं दीखते या खद्योत नहीं चमकते, परन्तु उनका या उनके प्रकाश का अभाव नहीं माना जाता, ऐसे ही आँखों की रश्मि भी नहीं दीखती। इस पर वादी शंका करता है—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (पूर्व पत्त)

खद्योत या तारों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह ठीक नहीं क्योंकि उनका प्रकाश यदि दिन में सूर्य के प्रकाश से दबा रहता है तो रात्रि में जब सूर्य्य का प्रकाश नहीं होता उसकी उपलब्धि होती है परन्तु आंख की किरणें तो न दिन में दीखती हैं, न रात में । इसलिए जिसकी उपलब्धि किसी काल में भी नहीं होती उसका मानना व्यर्थ है । अब इसका उत्तर देते हैं-

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विपयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ।४१।

बाह्य प्रकाश की सहायता से अर्थात् सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से आँख देखने में समर्थ होती है और बाह्य प्रकाश के न होने से किसी वस्तु के रूप का ज्ञान नहीं होता । बाह्य प्रकाश से भी उन्हीं पदार्थों का ज्ञान होता है । जो उद्भूत रूप हैं, जो अनुद्भूत हैं, उनका ज्ञान नहीं होता । क्योंकि बाह्य प्रकाश स्थूल पदार्थों को ही दिखला सकता है, सूक्ष्म को नहीं, किरणों भी सूक्ष्म हैं इसलिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । पुनः इसी की पुष्टि करते हैं

अभिव्यक्तौ चाभिभवात ॥ ४२ ॥ (उ० प०)

जो पदार्थ अभिव्यक्त (उद्भूत) होते हैं और बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखते जैसे कि नक्षत्र और दीपादि, उन्हीं का अभिभाव (दब जाना) होता है तथा जो पदार्थ उद्भूत रूप तो नहीं होते किन्तु बाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं जैसे कि घटपटादि स्थूल पदार्थ और चखरश्मि आदि सूक्ष्म पदार्थ, इनका अभिभाव नहीं होता जो कि आंख की रश्मि दीपादि के समान अभिव्यक्त नहीं, इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । इस पर और भी हेतु देते हैं-

रात को घूमने वाले सिंह मार्जार आदि जितने जन्तु हैं उनकी आँखों में तेज की किरणें देखने में आती हैं इससे जन्तुओं की आंखों में प्रकाश की किरण के होने का अनुमान होता है । भेद केवल इतना

है कि तीव्र ज्योति वाले जन्तुओं में इसका प्रत्यक्ष होता है, मन्द ज्योति वालों में नहीं। इंद्रिय और अर्थ के संयोग को प्रत्यक्ष का कारण कहा था, अब इस पर शंका करते हैं—

अप्राप्यग्रहणं काऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥४४॥ (पूर्वपक्ष)

इंद्रिय और पदार्थ का संयोग ही प्रत्यक्ष का कारण नहीं क्योंकि काच अभ्रक और स्फटिक के व्यवधान (आवरण) होने पर भी आंख से रूप का ग्रहण होता है। यदि इंद्रिय और अर्थ का संयोग ही प्रत्यक्ष का कारण होता तो आवरण होने पर कोई वस्तु न दीखती परंतु दीखती है, इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय अप्राप्त को ग्रहण करते हैं, अतएव वे अभौतिक हैं, क्योंकि केवल प्राप्त की ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म है। अब इसका समाधान करते हैं:—

न कुडयान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥४५॥ [उत्तरपक्ष]

यदि इंद्रियों में यह शक्ति होती कि वे अप्राप्त को भी ग्रहण करलें तो भित्ति (दीवार) का आवरण होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होती, परंतु ऐसा नहीं होता। इंद्रियों के भौतिक होने का निषेध नहीं होता जो कि काचादि के आवारण में देख लेना और भित्ति के आवरण में न देख सकना ये दोनों प्रकार के धर्म चक्षु में पाये जाते हैं, इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥४६॥ [उ०प०]

काच अभ्रक और स्फटिक आदि पदार्थ स्वच्छ होने से आंखों की किरणों को रोक नहीं सकते इसलिए उनका आवरण होने पर भी संयोग में रुकावट नहीं होती। संयोग की उपस्थिति होने पर ही रूप का ग्रहण होता है और यह समझना कि भौतिक पदार्थों में बनावट होती है, इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघितात् ॥४७॥[उ०प०]

सूर्य की किरणें काचादि का आवरण होने पर भी दूसरी तरफ

चली जाती हैं, जिसका प्रमाण आवरित पदार्थ का उष्ण हो जाना है। और देखिये एक बटलोई में पानी डालकर नीचे आग जला देते हैं तो आग की गर्मी देगची के परदे से गुजर कर पानी में चली जाती है, इससे जाना जाता है कि तेज की किरणें सूक्ष्म होने से नहीं रुक सकती जैसे सूर्य की किरणों को कुम्भादि का आवरण पानी में उष्णता पहुँचाने से नहीं रोक सकता, ऐसे ही आंख किरणों को भी काचादि का आवरण दृश्य पदार्थ में जाने से नहीं रोक सकता। फिर आक्षेप करते हैं :—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ (पू० प०)

कहीं पर आवरण होने से आंख की किरणों का रुक जाना जैसे कि दीवार आदि में और कहीं आवरण होने से न रुकना जैसे कि काचादि में ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। या तो दीवार से भी रुकावट होनी चाहिये या काच से भी रुकावट होनी चाहिये। इसका उत्तर देते हैं :—

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥४९॥
(उत्तर पक्ष)

जैसे दर्पण और जल स्वभाव स्वच्छ होने से नेत्ररश्मि को नहीं रोकते। भित्ति आदि मलिन स्वभाव होने से रुकावट का कारण होते हैं।

प्रश्न—भित्ति आदि के मलिन स्वभाव और काचादि के स्वच्छ स्वभाव होने का क्या कारण है ?

उत्तर—सत्व, रज, तम प्रकृति के तीन गुण प्रधान हैं, जल में रजस् और पृथिवी में तमस्। अग्नि के परमाणु अधिक होने से भित्यादि मलिन स्वभाव हैं। दर्पणादि के समान आँख की ज्योति को क्यों माना जावे ?

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥५०॥ [उ० प०]

जो बातें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं, उनमें भी मीन मेष निकालना या यों कहना कि ऐसा होना चाहिए, ऐसा न होना चाहिये, ठीक नहीं है। जैसे काच का आवरण होने से दूसरी तरफ के पदार्थ दीखते हैं भित्ति के आवरण में नहीं दीखते यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अब इसमें यह आक्षेप करना कि काच के आवरण में क्यों दीखते हैं, या भित्ति के आवरण में क्यों नहीं दीखते बिलकुल असङ्गत है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की बनावट और दशा भिन्न २ हैं इसलिये सब में एकसा नियम नहीं हो सकता। इस विषय को यहीं समाप्त करके अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि इन्द्रिय एक है वा अनेक? प्रथम संशय का कारण करते हैं :—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥५१॥

(पूर्व पक्ष)

इंद्रियें के स्थान पृथक २ होने और अनेक स्थानों में अनेक द्रव्यों के देखने से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि इन्द्रिय एक है वा अनेक? इसका तात्पर्य यह है कि इस देह में जो इंद्रिय हैं, उसके स्थान अलग २ हैं। सन्देह यह होता है कि इन स्थानों में एक ही इन्द्रिय अवयवी रूप से व्यापक है वा भिन्न २ इन्द्रिय काम करते हैं? एकेन्द्रिय वादी कहता है:—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥ (पू० प०)

त्वग् अर्थात् खाल से रहित देह का कोई भाग नहीं या शरीर के किसी भाग या इन्द्रिय में त्वचा का अभाव नहीं है और न कोई इन्द्रिय ऐसा है कि जिसका सहारा त्वचा न हो। यदि खाल का चमड़ा मढ़ा हुआ न हो तो सारे इन्द्रिय और शरीर विकल हो जावें और कुछ भी काम न कर सकें, इसलिए त्वचा ही एक इन्द्रिय है। इसका उत्तर देते हैं:—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (उ० प०)

यदि एक त्वचा ही को इन्द्रिय माना जावे. तो सब विषयों का उससे ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि अन्धे को रूप का ज्ञान और बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता। इससे जाना जाता है कि और भी इन्द्रिय हैं, जिनके होने से उन विषयों का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। त्वचा से केवल स्पर्श की उपलब्धि होती है, गन्ध रस, रूप और शब्द का ज्ञान उससे नहीं होता। इससे सिद्ध है कि इंद्रिय अनेक हैं। इस पर वादी फिर आक्षेप करता है–

त्वगव्यवविशेषेण धूम पलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५४॥ (उ०प०)

जैसे त्वगिन्द्रिय का विशेष भाग धूम की उपलब्धि करता है ऐसे ही त्वचा का कोई भाग रूप की उपलब्धि कराता है। कोई रस की,कोई शब्द की। उस विशेष भाग के विकृत या नष्ट होजाने पर अन्धे को रूप और बहरे को शब्द की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए केवल त्वचा को इन्द्रिय मानने में कोई हानि नहीं। अब इसका खण्डन करते हैं–

व्याहतत्वादहेतुः ॥५५॥ (उ०प०)

वादी ने प्रथम तो यह कहा था कि शरीर का कोई भाग पृथक नहीं अर्थात् सब शरीर में व्यापक होने से त्वचा ही एक इंद्रिय है अब कहता है कि उसके एक विशेष भाग धूमादिवत् रूपादि की उपलब्धि होती है। विशेष भागोंसे विशेष विषयों की उपलब्धि होना और उनके न होने से न होना यह बात विषयग्राहक इन्द्रियों का अनेक होना सिद्ध करती है, जिससे पहला पक्ष खण्डित हो जाता है। इन्द्रियों के स्थान में व्यापक होने से जो त्वचा को एक इन्द्रिय माना है यह भी ठीक 'नहीं', क्योंकि यदि सब में फैली हुई होने से ही त्वचा सब काम कर सकती है तो फिर पृथिव्यादि भूत भी जो सब जगह फैले हुए हैं और सब इन्द्रियों का आधार भी हैं इनको एक इंद्रिय क्यों न मान लिया

जावे। ऐसा मानना प्रमाण और युक्ति के विरुद्ध है। इस पर एक हेतु और देते हैं—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥५६॥ (उ० पक्ष)

यदि त्वचा एक इन्द्रिय होती तो एक साथ बहुत से विषयों का ज्ञान होता, क्योंकि वह सब शरीर में व्यापक होने से सब विषयों का ज्ञान करने में समर्थ होती। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए इन्द्रियें अनेक हैं। जो लोग त्वचा को एक इन्द्रिय मानते हैं, उनके मतानुसार अन्धा बहरा कोई हो नहीं हो सकता। क्योंकि अन्धे और बहरे को भी त्वचा से रूप और शब्द का ज्ञान हो ही जाता और जिसको रूप और शब्द का ज्ञान हो उसे अन्धा बहरा कहना नहीं बन सकता जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अन्धों और बहरों को रूप और शब्द का ज्ञान नहीं होता तब केवल एक ही इन्द्रिय मानना अयुक्त है इस पर और भी युक्ति देते है—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥५७॥ (उ० पक्ष)

विप्रतिषेध होने से भी त्वचा भी एक इन्द्रिय नहीं है।

प्रश्न—विप्रतिषध किसे कहते हैं?

उत्तर—जहां दो बराबर शक्तियाँ परस्पर विरोध करती हैं।

प्रश्न—यहाँ पर परस्पर विरोध क्या है?

उ०—यहाँ विरोध यह है कि आँख से दूरस्थ पदार्थों की उपलब्धि होती है, परन्तु त्वचा से दूर के पदार्थों का स्पर्श नहीं होता यदि त्वचा एक ही इंद्रिय होती तो उसमें दूर की वस्तु का स्पर्श और रूप दोनों का ग्रहण होता या संयुक्त वस्तु के स्पर्श के समान उसके रूप का ज्ञान भी होता, परंतु रूप का सदा दूर से होता है और स्पर्श का ज्ञान संयोग से। इनमें परस्पर विरोध होने से सिद्ध है कि इन दोनों के ग्राहक इंद्रिय अलग अलग हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा माना जावे कि त्वचा में दो गुण हैं [१)

संयुक्त वस्तु के स्पर्श का (२) दूरस्थ वस्तु के रूप को ग्रहण करना, तो क्या हानि है ?

उ०—यह ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग बिना, किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तो क्या दूरस्थ पदार्थ के रूप को ग्रहण करते समय त्वचा शरीर को छोड़कर उसके पास चली जाती है,कदापि नहीं। नेत्ररश्मि के द्वारा ही दूरस्थ वस्तु के रूप का ग्रहण होता है। अतएव इन्द्रिय अनेक हैं।

प्रश्न—प्रायः हम देखते हैं हवा बन्द हो जाती है उस समय हवा के होने के क्या प्रमाण है ?

उ०—हवा सदा रहती है गर्मी से उसमें क्रिया होती है तो चलती मालुम होती है। बाह्य हवा के नाक में प्रवेश से गन्ध और कान में प्रवेश से शब्द प्राप्त होता है। साकार वस्तु के रूप को हवा नेत्र इन्द्रिय तक नहीं पहुंचा सकती इस नेत्र से पदार्थ के संयोग की आवश्यकता है। अब इस पर एक हेतु और देते हैं।

इन्द्रियार्थपंचत्वात् ॥५८॥ (उत्तर पक्ष)

इन्द्रियों के विषय पांच हैं, जिनके नाम ये हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है, शब्दादि अन्य चार का नहीं, जिन कान, आँख जिव्हा और नासिका से शब्दादि अन्य चार विषयों का ज्ञान होता है, उनका त्वचा से भिन्न होना अनुमान सिद्ध है। उक्त पाँचों विषयों का भिन्न २ पांच इन्द्रियों से ज्ञान होने और एक के विषय का दूसरे इन्द्रिय से ज्ञान न होने से यह सिद्ध है कि पाँच ही ज्ञानेंद्रिय हैं, न कि एक। वादी फिर आक्षेप करता है—

न, तदर्थबहुत्वात्। ५९। (पू० पक्ष)

इंद्रियों के पांच ही विषय नहीं,किन्त अनेक हैं, जैसे शीत उष्ण कोमल और कठोर आदि भेदो से स्पर्श कई प्रकार का है और लाल, पीला, काला और हरा इत्यादि भेदों से स्पर्श कई प्रकार का है

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदोंसे शब्द भी कई प्रकार का है। कड़ुआ, मीठा, खट्टा और तीखा आदि भेदों से रस के भी कई भेद हैं और दुर्गन्ध आदि भेदों से गन्ध भी कई प्रकार का है। जब अर्थ अनेक हैं तो उनके ग्राहक इन्द्रिय भी अनेक होने चाहिये न कि पांच। अब इसका उत्तर देते हैं–

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥६०॥ (उ०पक्ष)

गंधादि के भेदों को अलग गिनकर विषयों का बहुत्व मानना और उससे इन्द्रियबहुत्व की कल्पना करना ठीक नहीं। गन्ध का जो गंधत्व धर्म है, वह सब गन्धों में सामान्य रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार रूपादि के विशेषधर्म अपने अपने सामान्यधर्म में आजाते हैं। इसलिए वे सब भेद एक ही इन्द्रिय से गृहण किये जाते हैं जैसे लाल, पीला काला आदि रूप के भेद एक ही आँख से गृहण किये जाते हैं। इनके लिए भिन्न २ इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही शीतोष्णादि स्पर्श त्वगिन्द्रिय से गृहण होते हैं अर्थात् जिस त्वचा से शीत स्पर्श गृहण किया जाता है, उसी से उष्णस्पर्श भी। अतएव इन्द्रिय पाँच ही हैं। वादी फिर आक्षेप करता है।

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥६१॥ (पू० प०)

यदि भिन्न २ प्रकार के विषयों को एक जाति मान कर पांच विषय मानते हो तो पांच विषयों की कल्पना क्यों की जाती है, एक ही विषय क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि विषय का जो विषयत्व धर्म है वह सब विषयों में समान है, यदि गन्धत्व के सामान्य से सुगंध और दुर्गंध एक हैं तो विषयत्व के सामान्य से गंध, रस, शब्दादि भी एक ही हैं। जब विषय एक है तो फिर उसका ग्राहक इंद्रिय भी एक ही होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥६२॥(उ०प०)

बुद्धि ज्ञान को कहते हैं, वह चाक्षुषादि भेदों से पांच प्रकार का है, १—जब ज्ञान पांच प्रकार का है, तब उसके कारण भी पाँच होने चाहिए। २–इंद्रियों के अधिष्ठान (स्थान) भी पांच ही हैं। ३–गति-भेद भी जिनसे विषयों का ज्ञान होता है, पांच ही हैं। ४–आकृति भी पांचों इंद्रियों की भिन्न २ हैं। ५—जाति (कारण) भी पांच ही हैं, अर्थात् श्रोत्र का आकाश, त्वचा का वायु, चक्षु का अग्नि, जिह्वा का जल और घ्राण का पृथिवी। जब कारण पांच हैं, तब उनके कार्य एक कैसे हो सकता है, अतएव पांच इंद्रिय हैं, न कि एक इन्द्रियों का कारण पंचभूत हैं, अब यह दिखलाया जाता है।

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६३॥ [उत्तर पक्ष]

पचभूतों से गन्धादि गुणों की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखने में आती हैं, जैसे वायु से स्पर्श, आकाश से शब्द, अग्नि से रूप, जल से रस और पृथिवी से गंध की उपलब्धि होती है और यहाँ भूतों का पांच गुण इन्द्रियों के पांच विषय हैं, इससे सिद्ध है कि इन्द्रियों की प्रकृति पांच भूत हैं। जिस इन्द्रिय से जिस भूत के गुण का विशेष रीति पर ज्ञान होता है; वह इन्द्रिय उसी भूत का कार्य है, यह अनुमान सिद्ध है। इसलिए पंचभूत ही पांचों इन्द्रियों के कारण हैं। अब इनके गुण दिखलाते हैं।

गन्धरसरुपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या, अप्तेजोवायूनां पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥६४॥ (उ० प०)

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं। रस, रूप और स्पर्श ये तीन जल के गुण हैं। रूप और स्पर्श ये दो अग्नि के गुण हैं। स्पर्श वायु का गुण है, और शब्द केवल आकाश का है। अब इस पर शङ्का करते हैं।

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६५ ॥ (पू० प०)

उक्त सूत्रों में जो गुणों का कारण भूतों को बतलाया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस भूत की जिस इन्द्रिय से जिन जिन गुणों का संबंध बतलाया है, उससे उन सबका ज्ञान नहीं होता,जैसे पृथिवी इन्द्रिय घ्राण है। उससे रस, रूप और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, केवल गन्ध का ज्ञान होता। इससे रूप रस, और स्पर्श का पृथिवी में होना सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही जल के इंद्रिय रसना से स्पर्श का ज्ञान नहीं होता,केवल रस का ज्ञान होता। ऐसे ही तेज की इंद्रिय आँख से स्पर्श का ज्ञान नहीं होता, केवल रूप का ज्ञान होता है। इससे सिद्ध करते हैं कि भूतों में केवल एक ही गुण है न कि अधिक। इस की पुष्टि करते हैं:—

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः
॥ ६६ ॥ (पूर्वपक्ष)

जैसे पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश क्रम से ये पांच भूत बतलाये गये हैं, ऐसे ही गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द क्रम से इनके पांच ही गुण हैं अर्थात पृथिवी का गुण गन्ध है, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द गुण है। और जो जिस भूत का गुण है, उसी का ज्ञान उसके कार्यभूत इन्द्रिय से होता है, जैसे घ्राण से गन्ध का, रसना से रस का, आंख से रूप का, त्वचा से स्पर्श का और कान से शब्द का ज्ञान होता है। यदि एक भूत में एक ही गुण है तो फिर ६४ वें सूत्र पृथिवी के चार,जल के तीन और अग्नि के दो गुण क्यों माने गये हैं? इसका उत्तर देते हैं:—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥ (उत्तरपक्ष)

यद्यपि पृथिवी में अपना एक ही गुण गन्ध है,तथापि उसमें जल अग्नि और वायु के परमाणु मिले हुये हैं, इसलिये इनका संसर्ग होने से इनके गुण भी उसमें माने गये हैं। वस्तुतः कार्यरूप पृथिवी में ही चार गुण पाये जाते हैं, कारणरूप में नहीं। इसी प्रकार कार्यरूप जल में ही तीन गुण माने गये हैं कारणरूप में नहीं कारणरूप द्रव्यों में

संसर्ग न होने से केवल अपना ही गुण रहता है। इनका संसर्ग अनियम है या नियम पूर्वक, इसका उत्तर देते हैं :—

विष्टं ह्यपरंपरेण ॥ ६८ ॥ (उ० प०)

पृथिवी आदि पंचभूतों में पहला २ पिछले २ से मिला हुआ है अर्थात् पहला पृथिवी पिछले जल तेज और वायुसे मिलती हुई है। इसी प्रकार पहला जल तेज और वायु से और पहला तेज वायु से मिला हुआ है। इस सयोग के कारण ही कार्य दशा में अपने गुण के सिवाय अन्य गुण भी इनमें उपलब्ध होते हैं। अब इस पर शङ्का करते हैं :—

न पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥ (पू० प०)

पृथिव्यादि भूतों में एक २ गुण नहीं है, क्योंकि यदि एक ही एक गुण होता तो इनमें उसी का प्रत्यक्ष होता न कि अन्य गुण का। यथा पृथिवी में गन्ध का और जल में रस का प्रत्यक्ष होता, अग्नि के गुण रूप या वायु के गुण स्पर्श का इनमें प्रत्यक्ष न होना चाहिए था। क्योंकि जब जब कारणरूप पृथिवी और जल में रूप नहीं है, तो कार्य रूप में कहाँ से आ गया। कारण के विरुद्ध कार्य में कोई धर्म नहीं आ सकता। अतएव पार्थिव पदार्थों मे गन्ध के अतिरिक्त रस रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से, आप्य पदार्थों में रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से और तैजस पदार्थों में रूप के अतिरिक्त स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से एक २ भूतों में अनेक गुणों का होना सिद्ध है और यह जो हेतु दिया गया है कि अन्य भूतों के संसर्ग से उनके गुणों का प्रत्यक्ष होता है ठीक नहीं, क्योंकि यदि वायु के संसर्ग से आग्नेय पदार्थों में स्पर्श की उपलब्धि होती है तो अग्नि के संसर्ग में वायव्य पदार्थों में रूप की उपलब्धि क्यों नहीं होती क्योंकि संसर्ग दोनों का समान है। इसके अतिरिक्त रस पार्थिव और आप्य दोनों प्रकार के पदार्थों में पाया जाता है, परन्तु पार्थिव द्रव्यों में ६ प्रकार का रस होता है।

आप्य में केवल एक ही प्रकार का मधुर रस होता है। इसी प्रकार का पार्थिव द्रव्यों में हरा, पीला, लाल, काला आदि अनेक प्रकार का रूप होता है, जल में केवल एक ही प्रकार का रूप देखा जाता है। इसलिए यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उसमें पाये जाते हैं, ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं :—

पूर्वं पूर्वं गुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (उ० प०)

पृथिवी के चार गुण बतलाये हैं गन्ध रस, रूप और स्पर्श इनमें पहला गंध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, इतर, रस, रूप और गौण होने से अप्रधान और ऐसे ही रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं, जिनमें पहला रस प्रधान और दूसरे दो अप्रधान हैं। एवं तेज के रूप और स्पर्श इनके गुणों में पहला रूप प्रधान है दूसरा स्पर्श प्रधान है। बस इनमें जो जिसका प्रधान गुण है, वही उसके इंद्रिय से ग्रहण किया जाता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि एक इंद्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं। पुनः इसकी पुष्टि करते हैं:—

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (उ० प०)

जिस भूत का जिस इन्द्रिय के साथ अधिक सम्बन्ध है, उसी भूत के गुणों का उस इंद्रिय से ज्ञान होता है और वह इन्द्रिय उसी भूत का कार्य समझा जाता है। जैसे तेज से चक्षु की शक्ति बढ़ती है, इस लिये वह तेज का ही कार्य समझा जाता है। बस अधिक सम्बन्ध होने के कारण ही इन्द्रिय अपने कारण विषय को ग्रहण करते हैं, दूसरों के विषयों को नहीं। अपने अपने गुणों को इंद्रिय उनकी सहायता से ही ग्रहण कर सकते हैं :-

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (उ० प०)

घ्राणादि इंद्रिय जब कि पृथिव्यादि भूतों का कार्य है, तो उनमें भी गंधादि गुण विद्यमान है, फिर बिना किसी बाह्य वस्तु की विद्यमानता के उनमें गंधादि की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर

यह कि अपने गुणों के सहित घ्राणादि में इंद्रियत्व है, यदि गुणों को अलग कर दिया जाय तो फिर उनमें इंद्रियत्व धर्म ही न रहे। क्योंकि घ्राण अपने गुण गंध की सहायता से बाहर के गंध को ग्रहण करता है। यदि उसे अपने सहचरी गंध की सहायता न हो तो वह कभी उस का ग्रहण न कर सके। क्या कारण है कि इंद्रिय अपने आंतरिक गुणों को ग्रहण नहीं करते, किंतु बाह्य गुणों को ग्रहण करते हैं इसका उत्तरः—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ [उ० प०]

सहायक के न होने से इंद्रिय अपने स्वरूप को अथवा आंतरिक गुणों को ग्रहण नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि कोई वस्तु बिना बाहर की सहायता के अपने को ग्रहण नहीं कर सकती? जैसे आंख अपने बाहर के पदार्थों को देख सकती है, भीतर के नहीं हाथ बाहर के पदार्थ को पकड़ सकता है, भीतर के नहीं। अतएव केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इस पर वादी शंका करता है—

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ [पू० प०]

यह बात ठीक नहीं कि इंद्रिय अपने गुण को ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि कान अपने गुण शब्द को ग्रहण करते हैं अर्थात् जब कान बन्द कर लिये जाते हैं तो वे भीतर के शब्द को सुनते हैं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥७५॥ [उ०प०]

रूपादि गुणों के ग्रहण में सहायक पदार्थ बाहर रहते हैं और शब्द का सहायक आकाश भीतर बाहर सब जगह मौजूद है। इसलिए शब्द के समान रूपादि गुणों को बिना बाह्य सहायता के इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।

इन्द्रियपरीक्षा प्रकरण समाप्त हुवा।

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्

पिछले आन्हिक में आत्मा शरीर और इन्द्रियों की परीक्षा करके अब बुद्धि की परीक्षा आरम्भ करते हैं। पहले इस बात का विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?

कर्माऽऽकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥ (पूर्वपक्ष)

कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी स्पर्शत्व धर्म नहीं है, परन्तु इन दोनों में कर्म अनित्य और आकाश नित्य है, अब यह संदेह होता है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के समान नित्य ? दूसरा सन्देह का कारण यह भी है कि कहीं पर तो शास्त्र में आत्मगुण होने से बुद्धि को नित्य बतलाया गया है और कहीं इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण उसको अनित्य कहा गया है इनमें कौनसा पक्ष ठीक है। प्रथम बुद्धि का नित्यत्व स्थापन करते हैं:—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ (पू० पक्ष)

किसी देखी हुई वस्तु को देखने से जो यह स्मरण होता है कि यह वही वस्तु है जिसको मैंने पहले देखा था, इसको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं इस प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है कि बुद्धि नित्य है। यदि बुद्धि नित्य न होती तो उसमें प्रत्यभिज्ञा कभी हो नहीं सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते फिर उनका स्मरण कैसे होता, अतएव बुद्धि नित्य है। अब इसका खण्डन करते हैं:—

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ [उ० पक्ष]

वादी ने जो प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का धर्म मानकर हेतु दिया है

वह साध्य होने से ही ठीक नहीं,क्योंकि जैसे बुद्धि का नित्य होना साध्य है वैसे ही प्रतिभिज्ञा का बुद्धिधर्म होना भी साध्य है। एक साध्य सिद्धि में दूसरे साध्य का हेतु देना साध्यसम हेत्वाभास है । वादी को चाहिये था कि पहले प्रत्यभिज्ञा को बुद्धि का धर्म सिद्ध कर लेता तब उसको हेतु में रखता। अस्तु प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का धर्म नहीं है किंतु वह चेतन जीवात्मा का धर्म है। जीवात्मा ही किसी ज्ञात विषय का बुद्धि के द्वारा स्मरण करता है।

प्रश्न—ज्ञान जीवात्मा का धर्म नहीं किन्तु अन्तःकरण का धर्म है ?

उत्तर--ज्ञान अन्तःकरण का धर्म नहीं, किन्तु जीवात्मा का धर्म है अन्तःकरण तो केवल साधन मात्र है। यदि ज्ञान अन्तःकरण का धर्म माना जावे तो चेतन का क्या धर्म होगा ? चेतना, ज्ञान, स्मृति ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं, उनका कारण केवल जीवात्मा है हां, मन बुद्धि आदि उसके उपकरण हो सकते हैं।

प्रश्न--यदि यह माना जावे कि बुद्धि जानती है तो इसमें क्या दोष है ?

उत्तर--बुद्धि और ज्ञान दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं और ये गुण हैं न कि द्रव्य। गुण सदा द्रव्य में रहता है गुण में गुण नहीं रहता। इनमें द्रव्य केवल जीवात्मा है इस लिये सब उसी के गुण हैं, जिस प्रकार आंख से जीवात्मा देखता है कान से सुनता है,इसी प्रकार मन से मनन करता और बुद्धि से जानता है यदि आंख और कान द्रव्य और श्रोता नहीं तो मन मन्ता और बुद्धि ज्ञाता कैसे हो सकती है ? इसलिये बुद्धि जानती है और आत्मा जानता है यही सिद्धांत है। अतएव वादी ने बुद्धि के नित्य होने में जो हेतु दिया था, वह साध्यसम होने से जब अहेतु ठहरा तब बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है । अब जो लोग बुद्धि को स्थिर मानकर उसकी वृत्तियां को चल मानते हैं और वृत्तिमान् में

भेद नहीं करते, उनका खण्डन करते हैं :—

न युगपद्ग्रहणात् ॥ ४ ॥ [उत्तरपक्ष]

यदि वृत्ति (बुद्धि की किरणें) और वृत्तिमान (बुद्धि) में अभेद माने जावे तो बुद्धि के स्थिर होने से वृत्तियाँ भी स्थिर माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान होना चाहिये, परन्तु यह असम्भव है, इस लिये वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हो सकते। फिर इसी आशय की पुष्टि करते हैं :—

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ [उत्तरपक्ष]

प्रत्यभिज्ञान के निवृत्त होने पर वृत्तिमान् का भी नाश मानना पड़ेगा और ऐसा होने पर अन्तःकरण भी न रहेगा, क्योंकि वादी वृत्ति और वृत्तिमान में भेद नहीं मानता। तब वृत्ति के नष्ट होने पर वृत्तिमान् क्योंकर रह सकेगा ? अतएव ये दोनों एक नहीं हो सकते अब एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहते हैं :—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६ ॥ (उ० प०)

मन परिच्छिन्न होने से एक देशी है, इसलिये एक ही बार उस का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, जिसके कारण सब इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ज्ञान नहीं होता। जब इन्द्रिय के साथ मन मिलता है, तब उसी के विषय का ज्ञान होता है और जिसके साथ नहीं मिलता उसका ज्ञान नहीं होता। पुनःइसी की पुष्टि करते हैं:-

अप्रत्यभिज्ञानंच विषयान्तरव्यासंगात् ।७। (उ० प०)

जब मन किसी इंद्रिय के विषय में लगा हुआ होता है तब उस को किसी दूसरे इंद्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता । मनकी लगावट ही विषयों के ज्ञान का कारण है, इससे भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध है, अन्यथा एक मानने से लगावट नहीं हो सकती। अब मन में विभुत्व का खण्डन करते हैं।

न गत्यभावात् ॥ ८ ॥ (उ० प०)

यदि मन को सारे देह में व्यापक माना जावे तो उनमें गति का होना अर्थात् एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरे में जाना नहीं हो सकेगा, क्योंकि विभु पदार्थ सब में एक रस व्यापक होता है। परंतु मन का इंद्रियों से संयोग होता है, इसलिए विभू मानना ठीक नहीं, अब वादी वृत्ति का एकत्व स्थापन करता है।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥९॥ (पू०पक्ष)

जैसे लाल, पीले, हरे आदि रङ्ग वाले पदार्थों के संयोग से स्फटिक वैसे ही दीख पड़ता है, वास्तव में स्फटिक न लाल है न पीला, न हरा किन्तु वह श्वेत है, ऐसे ही भिन्न २ विषयों के संसर्ग से वृत्ति भी अनेक प्रकार की सी उपलक्षित होती है, वास्तव में वृत्ति एक ही है अब इसका उत्तर देते हैं-

न हेत्वभावात् ॥१०॥ (उ० पक्ष)

स्फटिक का जो दृष्टांत दिया है, वह अहेतुक होने से ठीक नहीं, क्योंकि स्फटिक में लाल,पीले आदि रङ्ग की भ्रांति होती है, न कि ज्ञान। जब भ्रांति का कारण मालूम होजाता है तब कोई भी स्फटिक को लाल, पीला या हरा नहीं समझता। परन्तु इंद्रियों से जो विषयों का ज्ञान होता है वह निश्चित और सर्वत्र एक सा उपलब्ध होता है, उसमें कहीं भ्रांति या संदेह नहीं होता क्योंकि भ्रांतियुक्त या सन्देहात्मक होने से वह प्रमाण ही नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त साकार होने से स्फटिक में दूसरी वस्तु का प्रतिविम्ब पड़ सकता है परंतु बुद्धि निराकार है उसमें किसी का प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता अतएव अहेतुक होने से यह दृष्टांत वृत्ति और वृत्तिमान को एक सिद्ध नहीं कर सकता।

अब क्षणिकवादी शङ्का करता है—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेःक्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥११॥(पू०पक्ष)

यह जो कहा था कि स्फटिक एक ही होता है, परन्तु भिन्न २ रङ्ग के फूलों का प्रतिविम्ब पड़ने से उसमें अनेकत्व की भ्रांति होती है,

वास्तव में वह अपने स्वरूप में अवस्थित है, क्षणिकवादी इसका खण्डन करता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति के क्षणिक होने से उत्पत्ति और विनाश रहता है। स्फटिक भी क्षणिक है । इसलिए उसमें नई व्यक्ति उत्पन्न होती है और पुरानी नष्ट।

प्रश्न—तुम्हारे इस क्षणिकवाद में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—शरीर के अवयव सदा बदलते रहते हैं । कभी दुबले होते हैं ! कभी मोटे, जिसमे प्रतिक्षण शरीर की वृद्धि और ह्रास होता रहता है जहां वृद्धि होरही है वहां उत्पत्ति है और जहां ह्रास है, वहीं विनाश है, भोजन का परिपाक होकर रस रक्त में परिणत होना कहीं शरीर की उन्नति और कहीं अवनति का कारण है, तोल में अन्तर होने के कारण भी वृद्धि और ह्रास का पता लगता है, सूक्ष्म और क्रमशः के होने के कारण हम इस परिवर्तन को मालूम नहीं कर सकते, परन्तु प्रति-क्षण यह परिवर्त्तन होरहा है, देह के ही समान प्रत्येक वस्तु क्षणिक है अब इसका उत्तर देते हैं।

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥१२॥ [उत्तरपक्ष]

यद्यपि ज्ञान में भेद होना वृत्ति वृत्तिमान् का एक होना ठीक है, तथापि स्फटिक का क्षणिक मानकर जो भेद का खण्डन किया गया है, वह ठीक नहीं,क्योंकि सब वस्तुओं में वृद्धि और ह्रास का नियम एकसा नहीं है।

प्रश्न—एकसा नियम न होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—नियमहोने में किसी प्रमाण का न होना ही न होने का है। यदि नियम होता तो उसको सिद्धि में कोई प्रमाण अवश्य होता है। जब कोई नियामक हेतु नहीं है तो जैसा देखा जावे वैसे ही मानना चाहिए। जिसमें वृद्धि और ह्रास के चिह्न देखे जावें, जैसे देहादि उनमें वृद्धि और ह्रास मानना चाहिए और जिन पदार्थों में ये चिन्ह अवगत न हों जैसे सोना, ,लोहा पत्थर आदि उसमें भी क्षणिक वृद्धि और ह्रास का मानना ठीक

नहीं, स्फटिक में भी क्षणिक वृद्धि और ह्रास नहीं देखे जाते। इसलिए देहवत् उसको भी क्षणिक मानना ठीक नहीं। इस पर एक हेतु और देते हैं:—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥१३॥ [उत्तरपक्ष]

जैसे देहादि के उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं, अर्थात् वृद्धि उत्पत्ति कारण और क्षय नाश का कारण समझा जाता है। जैसे स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते, अतः उनको भी देहादिवत् क्षणिक मानना ठीक नहीं। अब इस पर आक्षेप करते हैं:—

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥१४॥
[पूर्वपक्ष]

जैसे दूध नाश होकर जब दही बन जाता है तो दूध के नाश का कारण और दही की उत्पत्ति का कारण ज्ञान नहीं होता। परन्तु तो भी दही का उत्पत्ति और नाश माना जाता है, ऐसे बिना कारण के जाने भी स्फटिक में पहले व्यक्ति का नाश और पिछली व्यक्ति की उत्पत्ति माननी चाहिए। उसका उत्तर देते हैं:—

लिंगतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥ [उत्तरपक्ष]

दूध का नाश और दही की उत्पत्ति ये दोनों प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, इसलिए इनके कारण का अनुमान किया जा सकता है। किंतु स्फटिक में पहिली व्यक्ति के नाश और दूसरी की उत्पत्ति का कोई चिन्ह नहीं पाया जाता जिससे उनके कारण का अनुमान किया जावे। बिना प्रत्यक्ष के जो अनुमान किया जाता है वह ठीक नहीं होता। इसलिए दूध और दही का दृष्टान्त ठीक नहीं। अब पुनः शङ्का करते हैं:—

न पयसः परिणामो गुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥१६॥ [पूर्वपक्ष]

परिणाम होने से दूध की दशा बदल जाती है, उसका नाश नहीं होता।

प्रश्न-परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर—किसी वस्तु में पहले गुणों का नाश और नये गुणों का प्रादुर्भाव होना परिणाम कहाता है।

प्रश्न-नाश किसे कहते हैं ?

उत्तर-कार्य का कारणरूप हो जाना नाश कहलाता है।

प्रश्न—परिणाम और नाश में क्या भेद है ?

उत्तर—परिणाम में तो वस्तु के कुछ गुण विद्यमान रहते हैं, कुछ निकल जाते हैं और कुछ नये आ जाते हैं, परन्तु नाश में वस्तु के सब अङ्ग छिन्न-भिन्न होकर कारण रूप हो जाते हैं। अब इसका उत्तर देते हैं-

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनमपूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ।१७।

(उ० पक्ष)

पहला शरीर जिन परमाणुओं से बना था, उनका निकल जाना और दूसरे परमाणुओं का उनके स्थान में आजाना एक प्रकार का विनाश और उत्पत्ति ही है जैसे जिन परमाणुओं से एक मट्टी का गोला बना था, जब उससे न्यूनाधिक होकर घड़ा या थाली आदि बन जाती है तो उस गोलेका नाश और घड़े या थालीकी उत्पत्ति मानीजाती है, ऐसे ही दूध का नाश और दही की उत्पत्ति भी मानना चाहिए। अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं हो सकता।

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेःक्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥१८॥

(उत्तरपक्ष)

कहीं तो नाश के कारण का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, जैसा घटादि में देखा जाताहै कि डण्डा या ईंट लगी और घड़ा फूटगया और कहीं नाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दूध के नाश का कारण इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। इसलिए स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाशसिद्ध

करने के लिए दूध और दही का दृष्टान्त देना अनेकान्त (व्यभिचार) होने से माननीय नहीं हो सकता। बुद्धि वृत्ति को अनेकता और अनित्यत्व सिद्ध करके अब यह विचार किया जाता है कि यह ज्ञान किसका गुण है। जो कि ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, इसलिये प्रथम इसी का निषेध करते हैं कि ज्ञान इन्द्रियों का गुण है।

ज्ञानेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥

ज्ञान न तो इन्द्रिय का गुण है और न अर्थ का, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के नाश होने पर भी ज्ञान मौजूदा रहताहै अर्थात् जब इन्द्रिय और अर्थ नहीं रहते तब भी मैंने यह देखा था, या सुना था इत्यादि स्मरण होता है, इससे जाना जाता है कि ज्ञान इन्द्रिय या अर्थ का गुण नहीं किन्तु जो इन्द्रियों के द्वारा अर्थों को ग्रहण करता है, उसका गुण है। मन का गुण होना अगले सूत्र से निषिद्ध है:—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मानसः ॥ २० ॥ [उ० प०]

एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते इससे सिद्ध है कि ज्ञान मन का भी गुण नहीं है, क्योंकि यदि मन का गुण होता तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होने में कोई कारण बाधक नहीं हो सकता था।

प्रश्न—जब कि मन के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से उसके विषय का ज्ञान होता है और न होने से नहीं होता उससे सिद्ध है कि ज्ञान मन ही का गुण है ?

उत्तर—इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह दोनों में से एक के भी न होने पर नहीं हो सकता। इसलिये मन और इन्द्रिय दोनों ज्ञान के कारण हैं न कि कर्त्ता या ज्ञाता। जैसे हाथ और कुल्हाड़ी से लकड़ी कटती है, परन्तु हाथ और कुल्हाड़ी दोनों काटने के साधन हैं, अतएव ज्ञान (बुद्धि) मन का गुण नहीं, किन्तु मन के अधिष्ठाता आत्मा का गुण है:—

प्रश्न—यदि हम ज्ञान को मन का गुण मानें तो क्या दोष होगा?

उत्तर—यदि ज्ञान मन का गुण माना जावे तो मन फिर अन्तः करण न रहेगा- किन्तु ज्ञाता हो जायगा। यदि अन्तःकरण को ज्ञाता माना जावे तो फिर बहिष्करण इन्द्रियों को भी ज्ञाता मानना पड़ेगा। अनेक ज्ञाताओं के होने से फिर ज्ञान का प्रतिसन्धान या प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा अतएव ज्ञान मन का गुण नहीं।

प्रश्न–ज्ञान जिसका गुण है वह आत्मा है, सुख दुख जानने का साधन मन है इनमें नाम का ही भेद है ?

उत्तर—जिनका मन स्थिर नहीं उनको एक साथ .अनेक पदार्थों का ज्ञान नहीं होता पर योगी को समाधि सिद्धि में ज्ञान पैदा होता है। इससे हर प्रकार का ज्ञान विभु आत्मा को होता है अणु को नहीं।

प्रश्न—यदि हम मन को अणु न मानें किन्तु विभु मानें तो क्या दोष है ?

उ०—जब मन विभु अर्थात् सारे देह में व्यापक है तो मन का जब इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध होने से सब विषयों का एक साथ ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे मन का शरीर में अणु होना सिद्ध है। इस पर वादी आक्षेप करता है—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ।२१। (पू० पक्ष)

जब ज्ञान सारे देह में रहने वाले आत्मा का गुण माना जावेगा, तो भी वही दोष आवेगा जो मन को विभु मान कर ज्ञान को उसका गुण मानने में आता है। क्योंकि आत्मा के सारे देह में व्यापक होने से सब इन्द्रियों के साथ एक समय में उसका सम्बन्ध होगा और ऐसा होने से एक साथ सब विषयों का ज्ञान होना चाहिये। इसका उत्तर देते हैं—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ।२२। (उ०पक्ष)

विभु होने से यद्यपि आत्मा का सारे शरीर के साथ सम्बन्ध है तथापि इंद्रिय और मन का संयोग न होने से एक काल में अनेक

विषयों का ज्ञान नहीं होता। मन का अणु होना सिद्ध हो चुका है इसलिये उसका एक समय में सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता अतएव एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। इस पर वादी पुनः आक्षेप करता है–

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥२३॥(पू० प०)

बुद्धि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, मन और इंद्रियों का संयोग केवल ज्ञान का उद्बोधक है न कि उत्पादक, जब बुद्धि का कोई उपादान नहीं और उसको नित्य एवं विभु आत्मा का है, तो उसके गुण बतलाया नित्य होने में संदेह क्या है ? इसी आक्षेप की पुष्टि करते हैं –

विनाशकारणानुपलब्धेपपश्चावस्थानेतन्नित्यत्वप्रसङ्गः॥२४॥

बुद्धि अर्थात् ज्ञान के नाश होने का भी कोई कारण मालूम नहीं होता, इससे भी बुद्धि का नित्य होना ही सिद्ध होता है। यदि नित्य न हो तो फिर नित्य आत्मा का गुण कैसे हो सके ? गुण का नाश दो प्रकार से होता है, एक तो गुणी के नाश होने से दूसरे गुणों में किसी विरोधी गुण के आजाने से। जब बुद्धि आत्मा का गुण है तो न तो कभी आत्मा का नाश हो सकता है और उसके एक रस होने से उसमें कोई विरोधी गुण भी नहीं आ सकता अतएव प्रतिवादी को या तो बुद्धि को नित्य मानना पड़ेगा या उसके आत्मगुण होने से इनकार करना पड़ेगा। अब इसका उत्तर देते हैं।

अनित्यत्वग्रहाद्बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ।२५।(पू० प०)

बुद्धि अनित्य है इसको प्रत्येक विचारशील पुरुष जानता है, क्योंकि शब्दके तुल्य बुद्धिकी उत्पत्ति और विनाश के कारण देखे जाते हैं। जैसे पहिले उच्चारण किये हुए शब्द नष्ट और पिछले उच्चारित उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही पहला ज्ञान नष्ट होकर पिछला उत्पन्न होता है यदि बुद्धि नित्य होती तो कोई ज्ञान कभी नष्ट न होता किन्तु सब ज्ञान

सब काल में एक से बने रहते। ऐसा होने पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा इन सबका लोप हो जाता। अतएव बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है। दूसरा वादी कहता है:—

ज्ञानसमवेताऽऽत्मप्रदेशसन्निकर्षान्ममस: स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २७ ॥ [पूर्व पक्ष]

ज्ञान के संस्कारों से युक्त आत्मा के भागों के साथ क्रमशः मनका सम्बन्ध होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है, यही कारण है कि एक साथ बहुत सी स्मृतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। अब इसका उत्तर देते हैं।

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥ (उ०पक्ष)

आत्मा के विशेष भागों से मन का सम्बन्ध होने से ज्ञान और स्मृति की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं क्योंकि यदि आत्मा और मन के सम्बन्ध से स्मृति होती तो मन के शरीरान्तवर्ती होने से आत्मा के सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होने से मन के साथ निरन्तर आत्मा का सम्बन्ध रहना चाहिये जिससे स्मृति में भी नैरन्तर्य की प्रसक्ति होगी और यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, इसलिये आत्मा और मन के संयोग से स्मृति का मानना ठीक नहीं। इस पर फिर शङ्का करते हैं:—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

कर्मफल भोगने के लिये जो संस्कार हैं, यदि केवल संस्कार ही जीवन माने जायें और इन संस्कारों से युक्त आत्मा के भागों के साथ मन का सम्बन्ध होने से स्मृति उत्पन्न होती है तो कोई हेतु इसका कि शरीर के भीतर ही आत्मा और मन का सम्बन्ध होता है बाहर नहीं, इसलिये शरीर के भीतर ही आत्मा मन का संयोग होना साध्य है, फिर वह हेतु क्यों कर हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं:-

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥ (उ.प.)

शरीर की विद्यमानता में ही स्मृति होती है, यह माना पड़ेगा

कि शरीर के भीतर ही आत्मा और मन के सम्बन्ध से स्मृति होती है। यदि मन शरीर के भीतर न होता तो शरीर की स्थिति कैसी होती? आत्मा और मन के संयोग से जा प्रयत्न उत्पन्न होता है वह दो प्रकार का है एक धारक दूसरा प्रेरक। धारक शरीर को धारण भरता है,प्रेरक इन्द्रियों की प्रेरणा करता है। यदि मन का बाहर के आत्मा से सम्बन्ध होकर स्मृति उत्पन्न होती तो धारक शक्ति के न होने से बोझ के कारण शरीर गिर पड़ता क्योंकि उस धारक शक्ति का आधार मन तो शरीर के बाहर है। इसलिए मनका आत्मा के साथ शरीर के भीतर ही सम्बंध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। इस पर फिर आक्षेप करते हैं:—

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥ (पूर्व पक्ष)

मन अत्यन्त ही शीघ्रगामी है, इसलिये वह बाहर जाकर आत्मा से संयुक्त होता है और फिर शीघ्र ही शरीर के भीतर आजाता है और चेष्टा करता है। इस कारण शरीर बोझ से नहीं गिरता। इस प्रकार मन बाहर और भीतर आत्मा से सम्बन्ध रखता है, अब इसका उत्तर देते हैं।

न, स्मरणाकरलानियमात् ॥ ३१ ॥ [उ०प०]

मन को शीघ्रगामी मानकर आत्मा के साथ भी उसका सम्बन्ध ठीक नहीं। क्योंकि स्मरण करने का समय नित्य नहीं। अर्थात् कोई बात शीघ्र स्मरण हो आती है कोई देरसे। जब कोई बात देरमें स्मरण होती है तो स्मृति की इच्छा से मन सोचने लगता है और यह सोचना स्मृति का कारण होता है अर्थात् बहुत देर तक सोचने से स्मरण आता है। जब देर तक मन शरीर से बाहर आत्मा से संयुक्त हुआ सोचता रहता है, तब शरीर गिर पड़ना चाहिये और बिना शरीर के सम्बन्ध के केवल आत्मा और मन का सम्बन्ध स्मृति का कारण नहीं हो सकता क्योंकि शरीर आत्मा के सुख दुःख भोगने का स्थान है, उससे बाहर निकला हुआ मन आत्मा के सुख दुख का कारण नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि हम यह मानें कि केवल आत्मा और मन के सम्बन्ध होने से ही सुख दुःख का भोग होता है तो क्या हानि है।

उत्तर—इस दशा में शरीर की कोई आवश्यकता ही न रहेगी, इसलिये जैसे सुखादि आत्मा के भीतर होने की दशा में ही अनुभव किये जाते हैं ऐसे ही स्मृति भी आत्मा और मन के शरीर के अन्दर होने से ही होती है। इस पर और हेतु देते हैं :—

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ।३२। (उ०प०)

शरीर के बाहर आत्मा और मन का संयोग तीन ही प्रकार से मानोगे (२) या तो आत्मा अपनी इच्छा से शरीरके बाहर मनसे संयोग करे (२) अचानक हो जावे (३) या मन के ज्ञाता होने से हो। परन्तु ये तीनों प्रकार के मम्बन्ध असम्भव हैं (१) जब किमी प्रेरणा से पहले ही वह वस्तु स्मृति हो गई फिर उसका स्मरण कैसा ? (२) अचानक स्मरण करना भी नहीं कह सकते क्योंकि जब आत्मा किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा करता है तभी उसका स्मरण होता है।३) मन को चेतन (ज्ञाता) मानकर स्मरण की कल्पना करना भी ठीक नहीं, क्योंकि मन अचेतन और ज्ञान हानि रहित है। इसका समाधान करते हैं:—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषण समानम् ॥ ३३ ॥ (उ० प०)

जब किसी विचार में मन लगा हुआ हो, दूसरी किसी बात का ध्यान न हो उस ममय भी पैर में कांटा चुभाने से तत्काल उसे दुःख का अनुभव होता है। यह आत्मा और मन का विशेष प्रकार का संबन्ध है। ऐसा ही तीव्र स्मरणी वस्तु के योग से होता है।

प्रश्न—पैर में कांटा लगने से आत्मा की इच्छा कहना ठीक नहीं। भोग से ऐसा हुआ ?

उत्तर—यदि भोग से चोट लगना कहते हो तो स्मृति को भी भोग अन्य मान लो वह भी प्रहृष्ट याग से हुई अतः आत्मा की प्रेरणा

से निषेध करना ठीक नहीं। अब एक साथ अनेक स्मृति न होने का कारण कहते हैं।

प्रणिधानलिंगादि ज्ञानानामयुगहद्भावात् युगपदस्मरणम् ॥३४॥

(उत्तर पक्ष)

जैसे आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कार स्मृति के कारण होते हैं ऐसेही चित्त की एकाग्रता और स्मर्त्तव्य विषय के लिङ्ग आदि भी स्मृति का कारण हैं। जब वे एक साथ नहीं होते तो फिर उनसे होने वाली स्मृतियाँ एक साथ कैसे हो सकती हैं? अब इसका विशेष दशाओं अपवाद कहते हैं—

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ॥३५॥

प्रश्न—स्मर्त्तव्य लिङ्ग न होने से आकस्मिक ज्ञान कब होता है?

उ०–जब अल्पज्ञान से स्मृति के कारण ठीक २ ज्ञान नहीं होता और स्मृति होती है। स्मृति में ज्ञान न होने की वजह से प्रत्यभिज्ञा के समान अभिमान होता है। आशय यह है कि बहुत वस्तुओं के याद करने में जब सोचने बैठते हैं तो कोई वस्तु याद आने का कारण होती है, दोबारा सोचने से याद आजाती है। ज्ञाता शीघ्र स्मरण आजाने के कारण को नहीं जानता इस लिए प्रत्यभिज्ञा के समान अभिमान होता है।

प्रश्न-प्रत्यभिज्ञा से उत्पन्न ज्ञान आकस्मिक बहुत सी वस्तुओं का होता है, उसको निषेध कैसे करोगे?

उ०–एक समय में दो कर्मों का भोग नहीं हो सकता? इसी प्रकार ज्ञान भी एक काल में दो नहीं हो सकते।

प्रश्न–एक समय में दो का ज्ञान नहीं होता इसमें कौन युक्ति है?

उ०—साधन द्वारा ज्ञान होना है वह साधन मन है, वह एक

काल में दो ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता, मन के शीघ्रगामी होने से क्रम नहीं ज्ञात होता।

प्रश्न—उपभोग के अनुसार नियम करना ठीक नहीं।

उ०—साधन क्रमानुसार ही ज्ञान उत्पन्न कराते हैं, अतः दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

कोई २ ज्ञान ऐसे हैं कि जिनमें चित्त की एकाग्रता या समन्वय लिंगों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु वे आकस्मिक होते हैं, जैसे प्रतिभा ज्ञान जो प्रतिभा (बुद्धि की स्फूर्ति) से उत्पन्न होती है, वह अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार के आकस्मिक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु इस अपवाद से सामान्य नियम में कोई बाधा नहीं आती। जब जो लोग ज्ञान को आत्मा का और इच्छा, द्वेष, सुख और दुःखों को अन्तःकरण का गुण मानते हैं, उनका खण्डन करते हैं।

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥३६॥ (उ०पक्ष)

ज्ञाता जिस वस्तु को अपने सुख का कारण समझता है, उसके प्राप्त करने की इच्छा करता है और जिसको दुःख का कारण जानता है उससे बचना चाहता है। सुख साधनों को प्राप्त करने और दुःख साधनों के छोड़ने का प्रयत्न करता है। इसलिए ज्ञान, इच्छा, द्वेष सुख दुःख और प्रयत्न ये सब आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् जिसको सुख के साधन का ज्ञान होगा उसी की इच्छा होगी और वही उसके लिए यत्न करेगा। दुःख के साधन का ज्ञान होने पर द्वेष होगा अतः इन सबका आधार केवल आत्मा ही है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष यह चार मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होते हैं। शेष ज्ञान प्रयत्न नतान्त है इस पर वादी शंका करता है।

तल्लिंगत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३७॥

पार्थिव, आप्य, आग्नेय आदि जितने शरीर हैं उनमें प्रवृत्ति

और निवृत्त का होना पाया जाता है, प्रवृत्ति और निवृत्त इच्छा और द्वेष से होती है। बिना इच्छा के प्रवृत्ति और बिना द्वेष के निवृत्ति का होना असम्भव है, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता। अतएव इच्छा द्वेष पार्थिवादि शरीरों के धर्म हैं। अब इसका खण्डन करते हैं-

परश्वादिष्वारम्भिनवृत्तिदर्शनात् ॥३८॥ (उ० पत्त)

कुल्हाड़ी आदि हथियारों में भी आरम्भ और निवृत्त देखे जाते हैं। परन्तु उनमें इच्छा द्वेष का होना किसी को अभिमत नहीं है। इसी प्रकार शरीर में भी प्रवृत्ति और निवृत्त को देखकर इच्छा द्वेष की कल्पना करना ठीक नहीं। इसी पर आक्षेप करते हैं।

कुम्भाऽदिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥३६॥ [पू० पच]

कुम्भादि में प्रवृत्ति की उपलब्धि न होने से उक्त हेतु अहेतु है। अब इसका उत्तर देते हैं-

नियमानिमौ तु तद्विपकौ ॥४०॥ [उ. पत्त]

नियम और अनियम इच्छा और द्वेष के विभाजक हैं, तात्पर्य यह है कि चेतन और अचेतन का भेद इच्छा द्वेष सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही विदित होता है। इच्छा और द्वेष का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा से ही है, आत्मा ही इच्छा और द्वेष के कारण शरीर को प्रेरणा करता है अर्थात् ज्ञाता की इच्छा और द्वेष के कारण ही प्रवृत्ति और निवृत्त शरीर से होती है स्वयमेव नहीं, इसका आशय यह है कि इच्छा द्वेष आत्मा के गुण हैं, उनके आश्रय से ही शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं। अब इच्छादि के मनोधर्म होने का भी निषेध करते हैं-

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥४१॥

इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान ये ६ आत्मा के लिंग

बतलाये जा चुके हैं और अनुमान युक्तियों से इनका आत्म गुण होना सिद्‌ध किया गया है। साथ ही इसके शरीर इन्द्रिय और मनके चेतन (ज्ञाता) होने का निषेध किया गया है। इस सूत्र में मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण होता है। उक्त हेतुओं से तथा मन के परतन्त्र होने से और अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति से इच्छादि मन के धर्म नहीं हो सकते।

प्रश्न—अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति कैसे होगी?

उ०—यदि इच्छादि मन के धर्म माने जावेंगे तो इस जन्म में किसी अन्तःकरण ने स्वतन्त्रता से कोइ कर्म किया अब परमजन्म में उसका फल दूसरे अन्तःकरण को भोगना पड़ेगा और यह अन्याय है इसलिए आत्मा ही स्वतंत्रता मन आदि कारणों के द्वारा कर्म करता है वही जन्मांतर में इनका फल भोगता है यही सिद्‌धांत शास्त्र और स्युक्ति मूलक है। पुनः इसकी पुष्टि करते हैं—

पारिशेष्याद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥४२॥ [उ० पक्ष]

मन इन्द्रिय और शरीर के अचेतन होने से इच्छादि उनका धर्म नहीं हो सकते। अब उनसे शेष केवल आत्मा रह गया। अतएव ये उसी के धर्म या गुण हैं। जिन हेतुओं से आत्म सिद्‌धि की गई हैं उन्हीं हेतुओं से आत्मा का नित्य सिद्ध होना भी सिद्‌ध होता। और नित्य होने के कारण ही आत्मा धर्म से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करता है और अधर्म से नरक और दुःख भोगता है, यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के नष्ट होने पर उसका भी नाश हो जाता इस पर हेतु देते हैं-

स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥४३॥ (उ० पक्ष)

स्मृति भी एक ज्ञान है और ज्ञान आत्मा का धर्म सिद्‌ध हो चुका है, इसलिये स्मृति भी आत्मा का ही गुण है। प्रत्येक आत्मा में तीन प्रकार का ज्ञान होता है 'मैंने जाना था, मैं जानता हूँ, मैं जानूंगा' यह त्रिकालिक ज्ञान केवल आत्मा में ही रह सकता है, इसलिए स्मृति भी

आत्मा को ही होता है अब जिन कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उनको कहते हैं:-

प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यासलिंगलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाऽऽश्रित सम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽनिमित्तेभ्यः ॥४४॥ [उत्तरपक्ष]

प्रणिधान आदि निमित्तों से स्मृति उत्पन्न होती है (१) स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में लगा देना प्रणिधान कहलाता है। (२) एक ग्रन्थ में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को निबंध करते हैं (३) किसी काम के बराबर करने से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं उनको अभ्यास कहते हैं (४) धूप को देखने से जो अग्नि का स्मरण होता है। उसको लिङ्ग कहते हैं। (५) जो धर्म किसी पदार्थ को दूसरे से पृथक करे या जिनसे कोई पदार्थ जाना जावे, उसको लक्षण कहते हैं। (६) सादृश्य अर्थात् समता जैसे चित्र को देख कर चित्रस्था व्यक्ति का स्मरण हो आता है (७) परिग्रह, पुत्र के देखने से पिता और शिष्य के देखने से गुरु का स्मरण होता है। (८-९) आश्रय और आश्रित जो जिसके सहारे रहे, सहारे को आश्रय और सहारे रहने वाले को आश्रित कहते हैं, जैसे भृत्य और स्वामी। (१०) सम्बन्ध जैसे गुरु शिष्य का या पिता पुत्र का। (११) आनन्तर्य एक काम के पीछे जो दूसरा किया जाता है, उसे आनन्तर्य कहते हैं जैसे ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ। (१२) वियोग जिसका वियोग होता है, उसका स्मरण किया जाता है (१३) एक कार्य यदि बहुत से मनुष्य एक काम के करने वाले हों तो वे परस्पर स्मरण का हेतु होते हैं। (१४) विरोध जिसका परस्पर विरोध है, वे भी एक दूसरे को याद दिलाते हैं (१५) अतिशय, अत्यन्त होने से जैसे अत्यन्त बुद्धिमान् होने से बृहस्पति और अत्यन्त नीतिमान् होने से शुक्र का स्मरण होता है। (१६) प्राप्ति जिससे जिसको जिस वस्तु की प्राप्ति होती है, वह वस्तु उसको याद दिलाती है। (१७) व्यवधान, आवरण को

कहते हैं, जैसे भित्ति को देखकर गृह का स्मरण होता है १८-१६ सुख दुख प्रसिद्ध हैं, इनसे इनके हेतु का ज्ञान होता है। २०-२१ इच्छा-द्वेष से इष्ट अनिष्ट का स्मरण होता है। २२-भय से भय के हेतु का स्मरण होता है। २३-आर्थित्व मांगने से दाता का स्मरण होता है। २४-क्रिया से कर्त्ता का, २५-राग से ईप्सित अर्थ का। २६-धर्म और २७ अधर्म से सुख दुःख तथा इनके अदृष्ण कारणों का स्मरण होताहै। ये २७ स्मृति के कारण हैं इनके अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं। अब बुद्धि के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं:—

कर्मानवस्थायित्वग्रहणात् ॥४५॥ [उ०प०]

प्रत्येक अर्थ के लिये बुद्धि नियत है, जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है, तब तक ही उसकी स्मृति भी रहती है। अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर बुद्धि का नाश होता है! यह प्रत्यक्ष है, जब तक कोई पदार्थ सामने होता है, तभी तक उसका ज्ञान रहता है और वह परोक्ष हो जाता है, तब उसका ज्ञान भी नहीं रहता इसलिये अस्थाई कर्म की ग्राहक होने से बुद्धि अनित्य है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ॥४६॥ [उ०प०]

यदि बुद्धि को नियत माना जावे तो जो पदार्थ देखे गये हैं उन का प्रत्यक्ष रहना चाहिये। और उनकी सदा प्रत्यक्ष रहने पर स्मृति का अभाव होना चाहिये। क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष है, तब तक स्मृति है, तब प्रत्यक्ष नहीं। इससे पाया जाता है कि बुद्धि अनित्य है। वादी शंका करता है:—

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणावत् ॥४७॥ (पूर्वपक्ष)

यदि बुद्धि को अनित्य (शीघ्र नष्ट होने वाला) मानोगे तो उस

से ज्ञेय का स्पष्ट रूप के ग्रहण न हो सकेगा। जैसे बिजली के गिरने पर उसकी चमक के अस्थाई होने से रूप ग्रहण नहीं होता, ऐसे ही बुद्धि के भी अस्थायी होने से सारे ज्ञान भ्रमात्मक होंगे, परन्तु बुद्धि से पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिये बुद्धि को अनित्य मानना ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:-

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यानुज्ञा ॥ ४८ ॥ (उ० प०)

वादी ने जो बिजली का दृष्टांत दिया है, उसमें ही बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है, क्योंकि जैसे विद्युत्प्रकाश के क्षणिक होने से केवल उसका अव्यक्त ग्रहण होता है न कि उन पदार्थों का जिन पर बिजली गिरती है। ऐसे ही बुद्धि के अनित्य होने से केवल उसका ही अस्पष्ट होगा, न कि बुद्धिगम्य पदार्थों का। अतिएव वादी के ही हेतु से सिद्ध बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है फिर उसी की पुष्टि करते हैं:-

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तग्रहणम् ॥ ४६ ॥ [उत्तरपक्ष]

बुद्धि के अस्थिर होने पर भी पदार्थों का ठीक २ ज्ञान होता है। जैसे दीपक की किरणों का प्रत्येक में नाश होता जाता है और नई २ किरणें बत्ती से पैदा होती है, परन्तु उनसे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। उत्पन्न होने से दीपक की किरणें तथा उन किरणों से जिन पदार्थों का प्रकाश होता है ये दोनों अनित्य हैं अर्थात् न तो दीपक की किरणें ही स्थिर रहती हैं और न वे पदार्थ ही जिनको उन किरणों से मालूम करते है, स्थिर रहते है प्रत्येक वस्तु के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से उन पदार्थों के समान बुद्धि वृत्तियाँ भी अनित्य हैं जैसे दीपक की किरणें अस्थिर होने पर भी ठीक २ अर्थ का प्रकाश करती है ऐसे ही बुद्धि वृत्तियां अनित्य होने पर यथार्थ ज्ञान का कारण होते हैं। बुद्धि की अनित्यताका प्रकरण समाप्त हुआ, अब यह विचार किया जाता है, कि चेतना शरीर का धर्म है या किसी अन्य का? प्रथम सन्देह का कारण कहते हैं:—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः ॥ ५० ॥ (पू० पक्ष)

द्रव्य में अपने गुण और दूसरे के गुण भी पाये जाते हैं। जैसे जल में द्रव्य अपना गुण और उष्णत्व अग्नि का गुण पाया जाता है ऐसे ही सब पदार्थों में कुछ गुण अपने होते हैं और कुछ अन्य पदार्थों के योग से आते हैं! अब यह सन्देह होता है कि शरीर में जो चेतनता मालूम होती है, यह उसका अपना गुण है, या किसी अन्य पदार्थ का? इसका उत्तर देते हैं:—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥५१॥ (उ० पक्ष)

शरीर किसी दशा में भी रूपादि से रहित नहीं होता किन्तु चेतनता से रहित शरीर देखा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है। जैसे उष्णत्व जल का धर्म नहीं किन्तु अग्नि का है उससे रहित जल हो सकता है, ऐसे ही चेतनता जो किसी अन्य का धर्म है, उससे रहित शरीर हो सकता है, यदि कहा जाय कि संस्कार सहित शरीर का धर्म है तो भी ज्ञान के न रहने और उसके कारण के बने रहने से ऐसा होना सिद्ध नहीं हो सकता अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५२ ॥ (पू० पक्ष)

जैसे पकाने से गुणान्तर की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही शरीर में भी चेतनता की उत्पत्ति हो जायगी। अर्थात् किसी वस्तु में पहले जो गुण नहीं होते, पाक होने पर उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे ही शरीर के परिपक्व होने पर उसमें चेतनता की उत्पत्ति हो जायगी। अब इसका उत्तर देते हैं:—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेध ॥५३॥ (उ० पक्ष)

पाक से गुण उत्पन्न होते हैं वे पूर्व गुणों के विरोधी होते हैं। अर्थात् बीज में जो उत्पन्न होने का गुण है, वह पाक होने पर नहीं

रहता। सारांश यह कि पूर्व गुणों के साथ पाकज गुणों का कुछ संबन्ध नहीं रहता। परन्तु शरीर में चेतनता के विरुद्ध कोई दूसरा गुण देखा नहीं जाता। यदि चेतनता शरीर का गुण होती तो वह जब तक शरीर है, तब तक उसमें रहती, परन्तु शरीर के रहते हुए भी चेतनता उसमें नहीं रहती। इसलिये वह शरीर का धर्म नहीं। इसी अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं :—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥ (उ० प०) २री युक्ति

कुल शरीर में चेतनता व्यापक है अर्थात् शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं जिसमें चेतनता न हो तो क्या शरीर के सारे अवयव चेतन माने जायेंगे ? यदि शरीर के प्रत्येक अवयव में चेतनता की उपलब्धि होने से उनको चेतन माना जायगा तो एक शरीर में अनेक चेतन होने से उनका ज्ञान भिन्न २ होगा किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए चेतनता शरीर का धर्म नहीं। अब इस पर आक्षेप करते हैं :—

न केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥ (पू० प०)

चेतनता सारे शरीर में मौजूद नहीं है, क्योंकि शरीर के रोम और नखादि में उसकी उपलब्धि नहीं होती। इसीलिये यह कहना कि चेतनता सारे शरीर में व्याप्त है, ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:-

त्वक् पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसंग ॥५६॥ (उ०प०)

जहां शरीर का लक्षण कहा गया है, वहां चेष्टा और इंद्रियों के आश्रय को शरीर कहा है, इसलिये त्वचापर्यन्त (खाल तक) यह शरीर है, केश और नख उससे बाहर हैं। क्योंकि इनमें न तो चेष्टा पाई जाती है और नहीं ये कोई इन्द्रिय हैं और न किसी इद्रिय के अधिष्ठान हैं, इस लिए केश और नख शरीर नहीं हैं। इसी अर्थ को पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं :—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ।।५७।। [उत्तर पक्ष]

शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक प्रत्यक्ष जैसे रूपादि, दूसरे अप्रत्यक्ष जैसे गुरुत्वादि परन्तु चेतनता इन दोनों से विलक्षण है। यह मन का विषय होने से इन्द्रियां से ग्रहण की जाती और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं। इसी चेतनता शरीर का धर्म नहीं वादी आक्षेप करता है:–

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥ (पू० प०)

रूपादि गुणों से चेतनता को विलक्षण मान कर जो उसके शारीरिक गुण होने का निषेध किया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि शरीर के गुण रूप और गुरुत्वादि भी एक दूसरे से भिन्न और विलक्षण हैं। जब कि शरीर के भिन्न २ गुणों में परस्पर विरोध होने पर भी उसको शरीर गुण माना जाता है, तो चेतना बुद्धि) का रूपादि से विरोध होने पर उसको शरीर का गुण क्यों मान लिया जाय। इसका उत्तर देते हैं:–

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥ [उत्तरपक्ष]

वादी ने जो यह कहा कि शरीर गुणों में भी परस्पर विरोध है, यह ठीक नहीं। क्योंकि सब शरीर के गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं, इन्द्रियग्राह्य होना उनमें एक धर्म है जो सब में पाया जाता है। एक ही शरीर में रहने और इन्द्रियांमें ग्रहण किये जाने के कारण रूपादि गुण सजातीय है चेतनता बुद्धि का किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता, इसी लिये वह शरीर का गुण नहीं हो सकती, किन्तु अतीन्द्रिय आत्मा का धर्म है। यहां तक बुद्धि की परीक्षा हुई, अब मन की परीक्षा आरंभ करते हैं। मन प्रति शरीर में एक है वा अनेक? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:–

ज्ञानायौगपद्यादेक मन ॥ ६० ॥ (उ० प०)

मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान ही मन के होने का प्रमाण है, इस लिये मन एक है। यदि मन अनेक होते तो एक समय में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव था। क्योंकि सब इन्द्रियों के साथ एक २ मनका संयोग होकर सब विषयों का एक साथ ज्ञान होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये मन एक है वादी आक्षेप करता है:—

न युगपदनेकक्रियोपालब्धे ॥ ६१ ॥ (पूर्व प०)

यह कथन कि एक साथ अनेक ज्ञान न होने के कारण मन एक है ठीक नहीं है। क्योंकि एक साथ न केवल बहुत से ज्ञान किन्तु बहुत सी क्रियायें भी देखी जाती हैं। एक मनुष्य मार्ग में चलता हुआ कुछ पढ़ता हुआ जाता है, पक्षियों के शब्द सुनता है, पथिकों से बातचीत करता है, कहां जाना है, इस बात को सोचता है, ऐसे ही और भी बहुत से विचार और काम एक साथ करता जाता है। अतएव यह कहना कि एक साथ या एक काल में बहुत से ज्ञान या काम नहीं हो सकते, ठीक नहीं, अतःमन अनेक हैं। इसका उत्तर देते हैं:—

अलातचक्रदर्शनवत्तादुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६२ ॥ (उ० प०)

जैसे शीघ्रगामी अलातचक्र (आतिशबाजी की चर्खी) यद्यपि क्रमपूर्वक चलता है, तथापि शीघ्रगति होने के कारण उसका क्रम मालूम नहीं होता, किन्तु वह एक साथ ही चलता हुआ सा मालूम होता है। ऐसे ही शीघ्रगामी मन यद्यपि एक विचार को छोड़ कर दूसरे विचार में और एक काम को छोड़ कर दूसरे काम में जाता है, तथापि उसकी शीघ्र गति होने के कारण वह कृम नहीं दीखता, किन्तु वे काम एक साथ होते हुये मालूम होते हैं। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त वर्ण पद और वाक्यों का भी है। पहले कम पूर्वक वर्णों का उच्चारण होता है जिससे सार्थक पद बनने हैं फिर कृमशः पदों के मिलने से वाक्य

बनता है जिससे श्रोता को उसके अर्थ का ज्ञान होता है। यद्यपि यह सब काम क्रम पूर्वक होते हैं, तथापि शीघ्रता के कारण कोई इनके क्रम पर ध्यान नहीं देता। अतः सब काम क्रमपूर्वक होने से एक साथ नहीं हो सकते। अब मन का अणु होना सिद्ध करते हैं।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६३ ॥ (उ० पक्ष)

उक्त हेतु से मन का अणु होना भी सिद्ध होता है, क्योंकि यदि मन विभु होता तो उसका सब इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध होता जिससे सब विषयों का एक साथ ज्ञान होना चाहिये। ऐसा न होने से जहाँ मन का एक होना सिद्ध होता है, वहाँ उसका अणु होना भी सिद्ध है। अब यह सन्देह होता है कि एक शरीर में रहने वाले मन के संस्कार उसी शरीर से सम्बन्ध रखते हैं अथवा किसी दूसरे शरीर से भी सम्बन्ध है? या इस प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मन सहित शरीर को उत्पत्ति जीवों के पूर्वकृत कर्माधान है अथवा स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होती है? इसका उत्तर देते हैं:—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६४ ॥ [उत्तरपक्ष]

पूर्व जन्म में जो मन, वाणी और शरीर से कर्म किये गये हैं और उससे जो धर्माधर्म और उनका फल सुख दुःख का भोग उत्पन्न हुआ है, वही इस जन्म के होने का निमित्त कारण है। क्योंकि शरीर में उत्पन्न होते ही भोग का आरम्भ हो जाता है, जो बिना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। इसलिए कार्यरूप शरीर और उसके भोग से पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है, क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। अतएव पंचभूत इस शरीर का उपादान कारण है, न कि निमित्त कारण।

प्रश्न—जब इस शरीर का नाश हो जाता है तो धर्माधर्म के संस्कार किसमें रहते हैं?

उ०—सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन में।

प्रश्न—जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तो उस के साथ क्या जाता है ?

उ०—सूक्ष्म शरीर और उसमें रहने वाले संस्कार।

प्र०—सूक्ष्म शरीर नित्य है वा अनित्य ?

उ०—सूक्ष्म शरीर प्रकृति का कार्य होने से अनित्य है किन्तु ईश्वरीय नियमानुसार वह मुक्ति पर्यन्त रहता है, मुक्ति में नहीं रहता। अब वादी आक्षेप करता है।

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानत्तदुपादानम् ॥६५॥ [पूर्वपक्ष]

जैसे बिना कर्म और फल भोग के भूतों से मिट्टी धातु पत्थर आदिक मूर्तियां बनती हैं और भूतों के परमाणु ही उनके उपादान या निमित्त कारण माने जाते हैं। ऐसे ही बिना कर्म और उनके फल भोग के मनुष्यादि के शरीर उत्पन्न होते हैं कर्म या फलभोग के निमित्त मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं।

न साध्यसमत्वात् ॥६६॥ (उ० पक्ष)

जैसे बिना कर्म के शरीर की उत्पत्ति साध्य है,ऐसे ही बिना कर्म रूप निमित्त के मिट्टी पत्थर और धातु की उत्पत्ति भी साध्य है अतएव साध्य को हेतु में रखना साध्यसम हेत्वाभास है, कोई सिद्ध दृष्टान्त होना चाहिये। वादी पुनः आक्षेप करता है।

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥६७॥ [पूर्वपक्ष]

माता पिता के रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसको सब जानते हैं, फिर इस दृष्ट और प्रसिद्ध कारण को छोड़कर अदृष्ट कर्म को निमित्त मानना ठीक नहीं। वादी दूसरा हेतु और देता है।

तथाऽऽहारस्य ॥ ६८ ॥ (पू० प०)

रजवीर्य के ही समान माता पिता का आहार भी शरीर की

उत्पत्ति का कारण है । इन अनुभवसिद्ध कारणों की उपस्थिति में अदृष्ट कर्म को कारण मानना किसी तरह ठीक नहीं। अब इन आक्षेपों का उत्तर देते हैं :—

प्राप्तौ चानियमात् । ६६ । (पू० पक्ष)

स्त्री पुरुष के संयोग से भी यह नियम नहीं कि अवश्य ही पुत्रोत्पत्ति होगी, इस लिये स्त्री पुरुष का संयोग शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण नहीं हो सकता । इसी प्रकार आहार भी यद्यपि रजवीर्य को उत्पन्न करता है तथापि जब रजवीर्य ही शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण नहीं तब आहार क्योंकर हो सकता है ? केवल कर्म ही शरीरोत्पत्ति का अन्यतम कारण हो सकता है । यदि कर्म फल निमित्त होता है तो एक ही बार के संयोग से गर्भस्थिति हो जाती है अन्यथा बार २ के संयोग से भी सफलता नहीं होती । फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ७० ॥

जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति का कारण पूर्वजन्म के कर्म हैं, ऐसे ही परमाणुओं के संयोग से सृष्टि बनने का कारण भी पूर्वसृष्टिके कर्म हैं । जैसे मनुष्य का शरीर पूर्व जन्म के कर्मों से बनता है, ऐसे ही सृष्टि के सब स्थावर और जङ्गम शरीर कर्मनुसार ही बनते हैं । अर्थात् सब शरीर जीवात्मा से कर्मफल भोगने के लिए हैं ।

प्रश्न—सब शरीर परमाणुओं के विशेष संयोग से बनते हैं तो कर्म और ईश्वर को कर्त्ता क्यों माना जावे ?

उत्तर—मनुष्य के शरीर बनने का कारण अन्य प्रकार का संयोग है और पशुओं के लिए अन्य प्रकार का संयोग कारण है । इस भिन्न २ मिलाप का कोई कारण है या नहीं, यदि हो तो सिवाय कर्म के क्या होगा । दूसरे यह मिलाप स्वयं है इसका कर्त्ता कोई है यदि स्वयं है तो जड़ में नियमानुसार स्वयं काम होना असम्भव है । यदि

कोई अन्य कर्त्ता है तो वही कर्म है।

प्रश्न—यदि हम कर्म और ईश्वर को न मानकर पञ्चभूतों के मिलाप को ही सृष्टि का कारण मानें तो इसमें क्या हानि है?

उत्तर—पंचभूत जड़ है, उनमें एक प्रकार की शक्ति रह सकती है,परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। यदि संयोग उनके मिलाप से होता है तो वियोग का कारण क्या है? इसके अतिरिक्त यदि पंच भूत ही कारण होते, जीवों के कर्म और ईश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारण न होते तो सब शरीर एक जैसे बनने चाहिए थे और सबको एकसा सुख दुःख होता, परन्तु ऐसा नहीं है। यह शरीर और कर्म फल की भिन्नता ही ईश्वर और जीव के पूर्वकृत कर्मों को सिद्ध कर रही है- पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

एतेनानियमःप्रत्युक्त ॥७१॥ (उत्तर पक्ष)

इससे अनियम का खण्डन होता है अर्थात् सृष्टि की रचना में नियम देखने में आता है यदि इस सृष्टि का कोई चेतनकर्त्ता न होता तो सृष्टि के पदार्थों में कोई नियम न होता किसी से किसी की उत्पत्ति हो जाती। यदि शरीरों की रचना में पूर्व कर्म कारण न होता तो सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ होती। अतएव पूर्वकृत कर्म ही शरीरादि का निमित्त है।

प्रश्न—जब आत्मा में ज्ञान प्रयत्न रहते हैं तो कर्म समाप्त हो जाते हैं।

उत्तर—जब मिथ्याज्ञान और इच्छा का नाश हो गया तो प्रवृत्ति का नाश हो गया। कर्म इच्छा तथा द्वेष से होते हैं इच्छा द्वेष का नाश हो गया तो कारण के न रहने से कार्य का नाश हो गया। अतः जब तत्व ज्ञान से हो गया तब सब कर्म निवृत्त हो जाते हैं। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥७२॥ (उ०प०)

कर्म के नाश हो जाने पर अर्थात् जब भोगते २ कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब शरीर से आत्मा अलग हो जाता है और जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तो पञ्चभूतों के नाश न होने से शरीर आत्मा का वियोग कभी न होगा। दूसरी शङ्का करते हैं ॥

तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥

यदि शरीर की उत्पत्ति का कारण अदृष्ट (प्रारब्ध) को माना जावे तो मुक्त जीवों के शरीर की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी। क्योंकि कर्म और जीवात्मा का सम्बन्ध तो इच्छा होने पर होता है, राग द्वेष के निवृत्त होने पर नहीं होता। पर जब शरीर की उत्पत्ति का कारण प्रारब्ध को माना जावेगा तो मुक्त और बद्ध दोनों के लिये शरीर मानना पड़ेगा। अब इसका उत्तर देते हैं:—

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥ (उ०प०)

आत्मा बद्ध होकर कर्म करता है, मुक्त होकर नहीं करता। जब करना न करना इन दोनों का आरम्भ देखा जाता है, तब तत्व ज्ञान होने पर कर्म का त्याग मुक्त जीव को शरीर के बन्धन में नहीं पड़ने देगा। मन भी शरीरोत्पत्ति का कारण नहीं है।

मनः कर्मनिमित्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥७५॥ (उ०प०)

यदि अदृष्ट कारण को मन का गुण माना जावे तो शरीर से मन का वियोग कभी न होना चाहिये। क्योंकि मन किसी दूसरे कारण से तो शरीर में गया नहीं केवल अपने गुण अदृष्ट के कारण से गया है और वह जब तक मन रहेगा अवश्य ही रहेगा, क्योंकि गुणी बिना गुण के कभी रह नहीं सकता। परन्तु मन का इन्द्रियों के साथ कभी संयोग जो दुःख सुख आदि का कारण है सदा रह नहीं सकता। इसलिये अदृष्ट जो शरीर की उत्पत्ति का कारण है मन गुण नहीं। मन का

संयोग सदा क्यों नहीं रहता:—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥७६॥ [उ० पक्ष]

जिन कर्मों का फल भोगने के लिये जीवात्मा शरीर में आया था उसके भोगने के बाद मृत्यु हो जाती है और दूसरे कर्मों का फल भोगने के लिये और जन्म होता है। कर्म को निमित्त न मान कर यदि केवल भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानी जावे या मन के संयोग से देहोत्पत्ति मानी जावे, तब ऐसी दशा में मृत्यु का होना असम्भव होगा। क्योंकि भूत या मन जब तक रहेंगे तब तक शरीर भी बना रहेगा।

प्रश्न—हम कहते हैं कि किसी आकस्मिक कारण से मृत्यु हो जाती है।

उत्तर—वह आकस्मिक कारण भूतों से पृथक किसी का गुण है, या भूतों का ? यदि कहो भूतों का है तो विरुद्ध धर्म भूत में नहीं रह सकते अर्थात् वही संयोग का कारण हो और वही वियोग का, यदि कहो भूतों से अलग कोई गुण है, तो उसी को हम कर्मफल कहते हैं। इस पर वादी आक्षेप करता है:—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥७७॥ (पू० पक्ष)

जैसे परिमाणु की श्यामता नित्य होने पर भी अग्नि संयोग से नष्ट हो जाती है ऐसे ही मन का गुण अदृष्ट नित्य होने पर भी नष्ट हो जाता है और मोक्ष में शरीरोत्पत्ति का कारण नहीं होता। अब इसका उत्तर देते हैं:—

नाकृताभ्यागमप्रसंगात् ॥ ७८ ॥ (उ० प०)

अकृताभ्यागम दोष के होने से उक्त कथन ठीक नहीं। किसी प्रमाण से परमाणुओं की श्यामता का नित्य होना सिद्ध नहीं होता, अतः इस दृष्टान्त से कर्मफल का नाश मानना ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जाये तो बिना किये ही संसार में सुख दुःख आदि फल मानने पड़ेंगे।

जिससे अकृताभ्यागम दोष होगा क्योंकि बिना शुभ अशुभ कर्म के किसी को सुख या किसी को दुःख होना अन्धेर नगरी है। इसलिए बिना कर्म फल सुख दुःख के भोग का मानना प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र इन तीनों के विरुद्ध है। पहले प्रत्यक्ष का विरोध यह है कि प्रत्येक प्राणी के लिए सुख दुख की अवस्था एक जैसी नहीं है। जब अदृष्ट कर्म इसका कारण नहीं है, तो क्या कारण है, क्योंकि एक प्राणी दुःखी है और एक सुखी? दूसरे अनुमान का विरोध यह है कि जीवों को इस संसार में जो बिना यत्न के सुख दुख होते हैं उनका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जब दृष्ट कारण कोई देखने में नहीं आता तब सिवाय पूर्व जन्म के अदृष्ट कर्मों के और क्या कारण हो सकता है। अब रहा शास्त्र का विरोध, वह यह है कि वेद तथा सम्पूर्ण आप्त पुरुषों ने शुभ कर्म को सुख का हेतु और अशुभ कर्म को दुःख का माना है। यदि शरीरोत्पत्ति कर्म को निमित्त न माना जावे तो कदापि यह बात नहीं हो सकती। इसलिए शरीरों की उत्पत्ति में कर्मफल ही पुण्य कारण है। शरीर की परीक्षा समाप्त हुई।

तीसरे अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त हुआ।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥



अथ चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम् ।

तीसरे अध्याय में आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा की गई अब चौथे अध्याय में प्रवृत्यादि शेष ६ प्रमेयों की परीक्षा की जाती है पहले प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा करते हैं:-

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ [उत्तरपक्ष]

प्रवृत्ति का जो लक्षण कहा गया है, अर्थात् मन, वाणी और शरीर से किसी काम का आरम्भ करना उसमें कुछ वक्तव्य नहीं है, क्योंकि वह सर्वसम्मत सिद्धांत है। अब दोषों का वर्णन करते हैं।

तथा दोषाः ॥ २ ॥ (उ० पक्ष)

ऐसे ही दोनों का जो लक्षण किया गया है अर्थात् प्रवृत्ति के कारण दोष हैं उसमें कुछ विवाद नहीं है। अब दोषों के भेद कहते हैं।

प्रश्न—दोष किस में रहते हैं।

उ०—दोष स्वभाविक गुण नहीं, मिथ्या ज्ञान से होता है अतः जो मिथ्या ज्ञान में फंसेगा उसी में दोष रहते हैं।

तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥३॥ [उत्तरपक्ष]

दोष के तीन भेद हैं (१) राग (२) द्वेष (३) मोह । ये तीन दोषों की राशि (समूह) हैं, इन में से एक २ के अन्तर्गत बहुत से दोष आजाते हैं। जैसे राग के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा माया, दम्भ और लोभ इत्यादि हैं। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूआ, द्रोह, अमर्ष और अभिमान इत्यादि है। मोह के अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय और शोक इत्यादि हैं

इनमें से राग प्रवृत्तिका कारण है, द्वेष क्रोध का उत्पादक और मोह मिथ्या ज्ञान का कारण है। वादी आक्षेप करता है:—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥ (पू० प०)

रोगादि दोषों के तीन भेद मानना ठीक नहीं क्योंकि तीनों प्रकार के दोष एक ही तत्वज्ञान के विरोधी है या एक ही तत्वज्ञान सबका विरोधी और नाशक है। यदि इनके तीन भेद माने जावें तो फिर इन के प्रतिद्वन्दी भी तीन होने चाहिये। जो कि प्रतिद्वन्दी इन का एक है इसलिये इन में भी भेद न होना चाहिए।

इसका उत्तर देते हैं:—

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥ (उ० प०)

व्यभिचार युक्त होने से उक्त हेतु अहेतु है। क्योंकि श्याम हरित पीतादि वर्णों का एक अग्नि विरोधी है जो इन सब को जलाकर नष्ट कर देता है एक अग्नि के विरोधी होने पर भी ये सब पृथक् २ हैं। ऐसे ही एक तत्वज्ञान के विरोधी होने पर भी रागादि दोष भिन्न २ हैं, एक नहीं हो सकते।

अब इन तीनों दोषों में मोह प्रवलता दिखलाते हैं:—

तेषां मोहः पपीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥६॥ (उ० पक्ष)

इन सब दोषों का मूल है जिसको मोह नहीं रहता उसको राग द्वेष भी नहीं होते। तत्वज्ञान से मोह का नाश होता है मोह के न रहने पर राग द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु मोह है। अहित से अनुराग और हित से द्वेष ये दोनों मोह के कारण उत्पन्न होते हैं। क्योंकि इसी का दूसरा नाम मिथ्याज्ञान भी है। तत्वज्ञान इसी मिथ्याज्ञान का विरोधी है अतएव मिथ्याज्ञान के निवृत्त होते ही राग और द्वेप की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये मोह इन तीनों में प्रधान है। वादी आक्षेप करता है:—

प्राप्तस्तर्हिनिमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावोदोषेभ्यः ।७। (पू०प०)

जब मोह दोषों से उत्पन्न होने का कारण है तो कार्य कारण भाव के होने से वह द्वेषादि से भिन्न है। क्योंकि कारण कभी कार्य नहीं हो सकता। इसलिए दोष नहीं है किन्तु दोषों का कारण है इसका उत्तर देते हैं:—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥८॥ (उ०प०)

मोह में द्वेष के लक्षण पाये जाते हैं इसलिए मोह दोषों से भिन्न नहीं क्योंकि लक्षण और प्रमाण ही से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। दोष का लक्षण किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होना बतलाया गया है। अर्थात् प्रवृत्ति का कारण होना। जब कि मोह, प्रवृत्ति का कारण है तो वह दोष क्यों नहीं ?

अब कार्य कारण भाव का उत्तर देते हैं:—

निमित्त नैमित्तकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

तुल्य जातीय (एक जाति वालों) में एक की उत्पत्ति का कारण दूसरे को देखते हैं। जैसे पृथिवी की उत्पत्ति का कारण जल है और जल की उत्पत्ति का कारण तेज है। परन्तु यह कार्य कारण भाव होते हुए भी पृथिवी, जल तेज आदि भूत कहलाते हैं। ऐसे ही मोह राग और द्वेष का कारण होते हुए भी दोष कहला सकता है। अब प्रेत्य-भाव की परीक्षा करते हैं:—

प्रश्न—जब कि आत्मा नित्य है तो उसका जन्म मरण नहीं हो सकता और प्रेत्यभाव जन्म मरण का नाम है इसलिये नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं:-

आत्मानित्यत्वे प्रत्यभावसिद्धिः ॥१०॥ (उ० पक्ष)

आत्मा के नित्य होने से ही प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) का होना सिद्ध होता है। यदि आत्मा नित्य न होती तो पुर्नजन्म किसी प्रकार

सिद्ध नहीं हो सकता था, प्रेत्यभाव का अर्थ ही यह है कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना। यदि अपना अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट होजाता फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती थी। किन्तु जो उत्पन्न होता वह नया उत्पन्न होता क्योंकि उसी आत्मा का पुनर्जन्म कैसा ?

प्रश्न-यदि हम पुनर्जन्म का आरोप ऐसा मानें कि वर्तमान जन्म का नाश और नवीन जन्म की उत्पत्ति तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि इस दशा में कृत हानि और आकृतताभयागम दोष होगा अर्थात् जिसने कर्म किये हैं उसका फल नहीं मिलेगा जिसने नहीं किये उसको सुख दुःखादि मिले। इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं क्यों कि जो करता है वही भोगता है। सजाताय करण से कार्योत्पत्ति होती है या विजाताय करण से ? इसका उत्तर देते हैं।

व्यक्ताद् व्यक्तनां प्रत्यक्षप्रमाणेयेत् ॥११॥ (उ०)

स्थूल पृथिव्यादि कारणों से शरीर की उत्पत्ति होती है जैसे स्थूल मृतिकादि से स्थूल घटादि बनते है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इससे शरीरादि के कारण परमाणुओं का भी साकार होना अनुमान होता है। इसलिए सजातीय कारण ही सजातीय कार्य को उत्पन्न करते हैं अर्थात् जो गुण कारण में होंगे वह उसके कार्य में भी अवश्य आवेगे। अब वादी आक्षेप करता है।

न घटाद् घटनिष्पत्तेः ॥ १२ ॥ (पू० पक्ष)

सजातीय स्थूल घट की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये महान् से महान् की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु अणु से ही महान् की उत्पत्ति होती है। इसका उत्तर देते हैं।

व्यक्ताद् घटानिष्पेत्तेरप्रतिषेधः ॥१३॥ (उ० पक्ष)

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कार्य उत्पन्न होता है किन्तु कारण से कार्य की उत्पत्ति होना हमारा मन्तव्य है। घट कार्य

है इसलिये उससे दूसरा घट रूप कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु मृत्तिका कारण है इससे वह घट को उत्पन्न करने में समर्थ है। कारण मृत्तिका भी स्थूल है और उससे कार्य घट भी स्थूल ही उत्पन्न होता है। इसलिये स्थूल की उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता। वादी पुनः आक्षेप करता है।

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य माद्भविात् ।१४।

वादी कहता है कि अभाव की उत्पति होती है यही हमारा पक्ष है इसमें हेतु यह है कि जब तक बीज गलकर नाश न हो जाये अंकुर उत्पन्न नहीं होता । नाश का ही नाम अभाव है इससे सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पति होती है। अब इसका उतर देते हैं।

व्याघातादप्रयोगः ।१५। (उ० प०)

यह कहना कि बीज के नाश होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, ठीक नहीं क्योंकि उसमें व्याघात दोष आता है। क्योंकि बीज के गलने से उनका अभाव नहीं होता। यदि अभाव में उत्पत्ति होती तो बीज के न होने और उसके गलने की आवश्यकता ही क्या थी किन्तु बिना बीज के ही अंकुर उत्पन्न हो जाता। दूसरे जब बीज को तोड़ कर अंकुर उत्पन्न होता है तो अब बीज के तोड़ने वाले का अभाव नहीं यदि उसका अभाव होता तो बीज को कौन तोड़ता इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। वादी फिर आक्षेप करता है।

नातीतानामतयो कारकशब्द्रप्रयोगात् ॥१०॥ [पू० पक्ष]

बीज का नाश करके अंकुर का उत्पन्न होना अहैतुक नहीं है क्योंकि भूत और भविष्य में भी जो अविद्यमान है उसमें कार्य कारण भाव का प्रयोग होता है जैसे पुत्र की उत्पत्ति से पहले उसके जन्म होने का हर्ष होता है या घड़े के टूटने के पश्चात उसका शोक होता है। ऐसे ही बीज के नाश करने वाले अंकुर के होने से पहिले उसको

तोड़ने वाला कहा गया । इसमें कुछ भी व्याघात नहीं । अब इसका उत्तर देते हैं—

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ।१७। [उ० प०]

नष्ट बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, बीज का गलना नष्ट होना नहीं किन्तु वह एक अवस्थान्तर को प्राप्त होकर अंकुर को उत्पन्न करता है, न कि नष्ट होकर। इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं । पुनः इसी की पुष्टि करते हैं–

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥१८॥ (उ० प०)

बीज के गलने और अंकुर निकलने का जो सिलसिला है उसको क्रम कहते हैं, पहिले बीज जब गल जाता है तब उससे अंकुर उत्पन्न होता है। बीज गलने से नष्ट नहीं हो जाता है किन्तु उसकी बनावट में कुछ परिणाम होकर अंकुर लाने में समर्थ हो जाता है। यदि नष्ट बीज से अंकुरोत्पत्ति होती तो जला या पिसा हुआ बीज भी अंकुर उत्पन्न कर सकता। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलल्यदर्शनात् ॥१९।(पू०प०)

मनुष्य जिस प्रयोजन से कर्म करता है, प्रायः उसी कर्म से वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इससे वह कर्म निष्फल जाता है। मनुष्य की इच्छा और कर्म के अनुसार फल होता हुआ न देखकर अनुमान होता है कि कर्मों का फल देने वाला कोई दूसरा है । यदि कर्म आप ही फल देने वाला होता तो कर्म के समाप्त होने पर उसका फल अवश्य मिलना चाहिए था परन्तु कर्म स्वयं फल देने में असमर्थ है इसलिए कर्म फल देने वाला ईश्वर है। दूसरा प्रतिपक्षी करता है ?

प्र०—क्या कर्म निष्फल भी जाता है ;

उ०—कर्म निष्फल तो नहीं जाता, परन्तु जिस समय हम

चाहते हैं उस समय फल नहीं मिलता।

नपुंरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ [पू० पक्ष]

प्रश्न–जिस कर्म का फल जिस समय मिलना नियम है उस समय न मिलने से कर्म को दूसरे के आधीन नहीं कर सकते ?

उत्तर—इस कर्म का फल इतनी देर में मिलेगा यह किसने नियम किया है जिसने यह नियम किया है वही ईश्वर है।

कर्म फल देने वाला ईश्वर है, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि जो दुःख सुख का होना ईश्वर के आधीन होता वह बिना कर्म के भी दे देता, परन्तु बिना कर्म के फल किसी को नहीं मिलता। इससे जाना जाता है कि कर्म फ़ल देने वाला ईश्वर नहीं किन्तु कर्म स्वयं ही फल पाता है, जो नहीं करता, वह नहीं पाता। अब इनका सूत्रकार उत्तर देते हैं:—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥२१॥(उत्तर पक्ष)

कर्म करने से जो फल होता है, यद्यपि कर्म उसका निमित्त है, तथापि जड़ होने से उसमें ज्ञान नहीं है, अज्ञानी कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। ऐसे ही कर्म भी बिना ईश्वर की प्रेरणा के स्वयं फल देने में समर्थ नहीं।

प्रश्न—जैसे आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है इससे कर्म प्रत्यक्ष में फल देता है।

उ०-प्रथम तो यह बात प्रत्येक स्थान में नहीं होती इससे व्यभिचारी है। चोरी करने वाला पकड़ा भी नहीं जाता इससे कर्म ईश्वराधीन है।

प्रश्न—जीव सृष्टि का करता है ईश्वर नहीं करता।

उ०—यदि जीव ही सृष्टि का कर्ता होता तो वह अपने मनोरथ में विफल क्यों होता जो जीव अपना उद्देश्य ही नहीं पूरा कर सकता वह सृष्टि किस प्रकार बना सकता है ? अतः कर्म फल के अनुमान

से ईश्वर ही सृष्टिकर्ता है।

प्रश्न—यदि ईश्वर को फलदाता माना जावे तो यह कैसे मालूम हो कि किसी कर्म का क्या फल है क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष होकर तो बतलाता नहीं ?

उ०—वेदादि शास्त्रों में और सृष्टि के नियमों में कर्म फल की व्यवस्था पाई जाती है उसका अध्ययन करने से मालूम हो सकता है कि सात्विक कर्म का यह फल है राजस का यह और तामस का यह।

प्र०—जब ईश्वर में राग और द्वेष नहीं तो कार्यों का फल देने वाला और सृष्टि का बनाने वाला क्योंकर हो सकता है क्योंकि बिना राग के प्रवृति और बिना द्वेष के निवृति हो ही नहीं सकती ?

उ०—ईश्वर का स्वभाव ही न्याय और दया करना है। अपने इसी स्वाभाविक गुण के कारण वह सृष्टि का उत्पति और जीवों को कर्म फल प्रदान करता है। अल्पज्ञ और एक देशी जीवात्मा राग से प्रेरित होकर कर्म करता है न कि सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर।

प्र०—ईश्वर दयालु और न्यायकारी किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि दया और न्याय ने दोनों परस्पर विरुद्ध गुण हैं वे दोनों ईश्वर में कैसे रह सकते हैं ?

उ०—ईश्वर तो न्याय करता है वह किसी प्रयोजन के लिये नहीं किन्तु जीवों पर दया करने के लिये और ये दोनों परस्पर विरुद्ध नहीं किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं जो न्यायी है वही दयालु भी है, और जो दयालु है वही न्यायी है।

अब स्वभाववादी आक्षेप करता है।

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्याऽऽदिदर्शनात् ।२२।

जैसे बिना निमित के स्वभाव ही से कांटों में तीखापन और पहाड़ी धातुओं में भिन्न २ वर्ण और गुण देखने में आते हैं ऐसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी बिना किसी ईश्वर या कर्म फल आदि

निमित्त के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। इसका खण्डन करते हैं:—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥२३॥ [पूर्व पक्ष]

यदि अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है तो अनिमित्त ही उसका कारण होगा। क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होती है, उसका कारण कहलाता है। जब अनिमित्त से उत्पत्ति होती तो वही उत्पत्ति का कारण होगा। फिर बिना कारण के उत्पत्ति कहां रही।

निमित्तानिमित्तयोररर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥ (उ० प०)

निमित्त और वस्तु है उसका खण्डन। कोई वस्तु अपना ही खण्डन नहीं कर सकती। जैसे अग्नि और पदार्थों को जलाता है, पर अपने को नहीं जला सकता, वायु अन्य पदार्थों को सुखाता है पर अपने को नहीं सुखा सकता। ऐसे ही कारण का अभाव किसी का कारण नहीं हो सकता। जब वह स्वयं अभाव है तो फिर उससे भाव की कल्पना करना आकाश कुसुम से बढ़ कर नहीं है।

अब अनित्य ही आक्षेप करता है:—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥२५॥ (पू० पक्ष)

जो वस्तु होकर न रहे, वह अनित्य कहलाती है, अर्थात् जो उत्पत्ति से पूर्व न हो और नाश के पश्चात् न रहे, वह अनित्य है। जब कि शरीरादि भौतिक पदार्थ और बुद्धियादि अभौतिक पदार्थ सब उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले हैं, इसलिये वे सब अनित्य हैं।

इसका खण्डन करते हैं:—

नानात्यतोनित्यत्वात ॥ २६ ॥ [पू०पक्ष]

सब अनित्य हैं ऐसा कहने से सब में जो अनित्यता है, उसका नित्य होना सिद्ध होता है। क्योंकि यदि अनित्यता को अनित्य मान लिया जावे तो सब का नित्य होना सिद्ध हो जायगा और यदि अनित्यता नित्य है तो फिर सब का अनित्य होना कहाँ रहा? क्या वह

अनित्यता सब से बाहर है ? इस पर भी आक्षेप करते हैं:—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्य विनाश्यानुविनाशवत् ॥२७॥ (पू०प०)

वह अनित्यता भी अनित्य है, जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि को नष्ट करके आप भी नष्ट हो जाता है, ऐसे ही अनित्यता भी सब पदार्थों का नाश करके आप भी नष्ट हो जाती है। अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं:—

नित्यस्याप्रत्याख्यान यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥

नित्य वस्तुओं का खण्डन करना अयुक्त है क्योंकि परीक्षा करने से पदार्थों के नित्य और अनित्य दो प्रकार के भेद पाये जाते हैं अर्थात् जिन पदार्थों की उत्पत्ति किसी कारण से सिद्ध है जैसे शरीर इन्द्रिय बुद्धि इत्यादि, वे सब अनित्य हैं और जिनकी उत्पत्ति किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, जैसे आकाश, काल, आत्मा इत्यादि वे सब नित्य हैं। अतः प्रमाण सिद्ध होने पर नित्य का खण्डन नहीं हो सकता। अब नित्यवादी आक्षेप करता है:—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥२९॥ (पू० प०)

कारणरूप से पञ्चभूत नित्य हैं, किसी प्रमाण से इसका नाश सिद्ध नहीं होता। जब कारण नित्य हैं तो फिर उनके कार्य अनित्य क्योंकर हो सकते हैं। अतःसब पदार्थ,हैं। अब इसका उत्तर देते हैं।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३०॥ (उ० प०)

सब पदार्थों को नित्य कहना ठीक नहीं,क्योंकि घटपटादि पदार्थों के उत्पत्ती और विनाश प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध होता है। अतः उत्पत्ति और विकाश कारणों के उपलब्ध होने से सब पदार्थ नित्य नहीं हो सकते।

फिर वादी आक्षेप करता है:—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥३१॥ [पूर्व पक्ष]

प्रत्येक पदार्थ में भूतों के लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि वे सब भूतों से बने हैं जैसे घट पृथिवी के परमाणुओं से बना है, पृथिवी के परमाणु नित्य हैं। यद्यपि घट छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। तथापि उसके परमाणुओं का नाश नहीं होता, वे सदा किसी न किसी अवस्था में वर्तमान रहते हैं। जब समस्त पदार्थ उन्हीं परमाणुओं से बने हैं,तब उनकी नित्यता का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि भूतों का लक्षण उनमें भी विद्यमान है। फिर वादी अपने कथन की पुष्टि करता है:—

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥३२॥ (पूर्वपक्ष)

उत्पत्ति और विनाश के जो कारण देखे जाते हैं वे औपाधिक हैं न कि वास्तविक। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नित्य होने से उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान होता है और विनाश के उपरांत भी वर्त्तमान रहता है और यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि घड़ा बनने से पूर्व कुम्हार के ज्ञान में था और नाश के पश्चात भी उसके ज्ञान में रहेगा।

प्रश्न—किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। घड़ा पहले मिट्टी में छिपा हुआ था वह प्रकट हो गया,इसी का नाम आविर्भाव या उत्पत्ति है। घड़ा टूटकर अपने कारण में लीन होगया। इसी का नाम तिरोभाव या नाश है। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की सत्ता विद्यमान रहती है?

उत्तर—आविर्भाव या तिरोभाव नित्य है वा अनित्य? यदि कहो नित्य है तो हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों सदा नहीं होते रहते,किन्तु किसी समय विशेष में होते हैं,यदि कहो अनित्य है तो फिर इनके द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न या नष्ट होते रहते हैं वे नित्य किस प्रकार हो सकते हैं?

प्रश्न—हमने तो प्रत्येक पदार्थ में पञ्चभूतों के लक्षण होने से उनको नित्य माना है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण रूप परमाणुओं के संयोग से बना है और वह संयोग किसी समय विशेष में हुआ है जो किसी समय विशेष में हुआ हो और समय विशेष तक रहे सदा न रहे, वह नित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—उत्पत्ति का कोई कारण नहीं, केवल स्वप्न दृष्ट वस्तुओं की तरह उसका अभिमान होता है, वास्तव में वह कल्पित है।

उत्तर—यदि कार्य वस्तु स्वप्न के समान कल्पित हैं, तो कारण पञ्चभूतों को भी कल्पित मानना पड़ेगा, जिस से सब को नित्य सिद्ध करते २ पंचभूत भी नित्य न रहेंगे, सूत्रकार स्वयं इसका उत्तर देते हैं:—

न व्यवस्थाऽनुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ [उत्तरपक्ष]

सब को नित्य मानने से यह उत्पत्ति होती है, यह विनाश है, यह व्यवस्था नहीं रह सकती। क्योंकि जब उत्पत्ति से पहले वह पदार्थ विद्यमान है, तो फिर उत्पति किसकी और कैसी ? ऐसे ही नाश के पश्चात् उसके विद्यमान रहने पर नाश किसका और कैसा ? न उत्पत्ति रहेगी और न विनाश रहेगा। इसके अतिरिक्त इन दोनों में काल का अन्तर भी नहीं रहेगा अर्थात् कब उत्पत्ति हुई और कब विनाश होगा इसकी कुछ व्यवस्था न रहेगी। इससे भूत और भविष्य दोनों कालों का लोप हो जायगा केवल वर्त्तमान काल रहेगा। इस लिये अविद्यमान के रूप विशेष की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूप हानि ही विनाश है। यही व्यवस्था युक्ति सिद्ध है। अब अनेकवादी आक्षेप करता है:—

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥३४॥

प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् और अनेक हैं, किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं, क्योंकि भाव के लक्षण पृथक् २ हैं। जैसे कुम्भ यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा कपाल घट, पार्श्व, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से उन सब का वाचक है, किसी एक वस्तु का नहीं,

ऐसे ही अन्य पदार्थों को भी समझना चाहिये। इस लिये जाति,आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं। सूत्र का अभिप्राय यह है कि सिवाय गुणों या अवयवों के कोई गुणी या अवयवी नहीं। इसका खण्डन करते हैं:—

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ [उत्तरपक्ष]

अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होती है, इसलिये अनेकवाद ठीक नहीं। अनेक गुण और भिन्न २ अवयव मिल कर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। गुणों से रहित गुणी और अवयवों से पृथक् अवयवी नहीं हो सकता। इस पर और भी हेतु देते हैं:—

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥३६॥ (उत्तरपक्ष)

भाव का लक्षण जो संज्ञा है,उसका नियम, एक अवयवी में देखा जाता है। "घड़े में पानी भर दो" यह कहने पर कोई मिट्टी के परमाणुओं में पानी नहीं भरता और न उनमें पानी भरा ही जा सकता है। अवयवी से जो काम सिद्ध हो सकता है वह उसके अवयवों से नहीं हो सकता। इससे सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से एक भाव और अनेक गुणों से एक गुणी सिद्ध होता है। यदि एक न मानोगे तो फिर समुदाय भी न रहेगा अब अभाववादी आक्षेप करता है:—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥३७॥ [पूर्व पक्ष]

सब कुछ अभाव है क्योंकि भावों में परस्पर अभाव की सिद्धि होती है। जैसे घड़े में कपड़े का अभाव है और कपड़े में घड़े का। गौ में घोड़े का अभाव है और घोड़े में गौ का। जब भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध है तब सब का अभाव ही क्यों न मान लिया जाय? अब उसका खण्डन करते हैं:—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥३८॥ (उ० पक्ष)

संसार में जितने पदार्थ है, वे सब अपने २ भाव से वर्तमान हैं,

उनमें अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उनके भाव का निषेध नहीं हो सकता प्रत्युत साधक है। यदि घट में पट का अभाव है तो घट का तो भाव है, घोड़ा गाय नहीं तो घोड़ा तो है फिर भाव से अभाव की सिद्धि क्योंकर होगी ? अतएव सब पदार्थों में अपना २ भाव होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता। वादी फिर आक्षेप करता है।

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥३६॥ (पूर्वपक्ष)

अपने भाव की सिद्धि आपेक्षिक होने से बिना एक दूसरे की अपेक्षा के सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे छोटे की अपेक्षा बड़ा और बड़े की अपेक्षा छोटा सिद्धि होता है वैसे ही घट की अपेक्षा पट और गौ की अपेक्षा अश्व की सिद्धि होती है। इसलिये बिना दूसरों की अपेक्षा के स्वतः किसी भाव की सिद्धि नहीं हो सकती अब इसका उत्तर देते हैं।

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ [उत्तर पक्ष]

यदि घोड़ा गाय की अपेक्षा से है तो गाय किसकी अपेक्षा से है, यदि कहो घोड़े की तो इसमें अन्योन्याश्रम दोष आयेगा। दोनों अपनी २ सिद्धि में एक दूसरे के आश्रित होंगे। जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थ अपनी सिद्धि में निरपेक्ष हैं। अब संख्यावाद की परीक्षा की जाती है।

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपल्युपपत्तिभ्याम् ॥४१॥
(उ० प०)

यदि कार्य कारण भिन्न २ हैं तो भेद के सिद्धि होने से उनका एकांत सिद्ध न होगा और यदि इनमें अभेद है तो कारण के न होने से कार्य की सिद्धि न हो सकेगी दोनों हेतुओं से संख्यावाद असिद्ध है।

अब इस पर शंका करते हैं:—

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (पूर्व पक्ष)

कारण कार्य का एक अवयव है और समष्टि व्यष्टि से पृथक् नहीं क्योंकि जो गुण समष्टि में होते हैं वही उसकी व्यष्टि में भी होते हैं। इसलिए एक का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि सब कार्य एक ही कारण के अवयव हैं इसलिए वे उससे पृथक् नहीं। अब इसका खंडन करते हैं।

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥ (उत्तरपक्ष)

जबकि कारण का सूक्ष्म होने से निरवय है तब कार्य को कारण का अवयव मानकर एक कारण को सिद्ध करना अयुक्त है। क्योंकि जब कारण के अवयव ही नहीं होते तब उन सबको मिलाकर एक पदार्थ कैसे हो सकेगा।

प्रश्न–यदि हम कारण को सावयव मानें तब तो ऐसा हो सकता है ?

उत्तर–सावयव पदार्थ संयुक्त होने से अनित्य होते हैं अर्थात् किसी समय विशेष में उनकी उत्पत्ति हुई तो विनाश भी अवश्य होगा क्योंकि एक तट वाली नदी नहीं हो सकती। इस लिए यदि तुम कारण को सावयव मानोगे तो वह अनित्य होगा। परन्तु कारण नित्य होने से सदा रहता है। अतएव उसका एक होना प्रमाण और युक्ति के विरुद्ध है। जब एक नहीं तो दो तीन या चार आदि की संख्या नियत करना भी ठीक नहीं। प्रेत्यभाव की परीक्षा समाप्त हुई। अब आगे फलकी परीक्षा की जाती है।

सद्यः कालान्तरे च फलनिपत्त्योः संशयः ॥४४॥ (पूर्वपक्ष)

बहुत से कर्मों का फल शीघ्र मिलता है जैसे रोटी पकाना, दूध दुहना इत्यादि। बहुत सी क्रियाओं का फल देर से मिलता है। जैसे खेती करना, वृक्ष लगाना, इत्यादि। अब जिन कर्मों का फल शास्त्र में

लिखा है अर्थात् 'यज्ञादि करने से स्वर्ग मिलता है, और 'अनृत भाषणादि से नरक होता है ।' इस में सन्देह होता है कि कौन कर्म शीघ्र और कौन देर में फलदायक होता है ? इसका उत्तर देते हैं ।

न सद्यः फलकालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥४५॥ (उ०प०)

प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता बहुत से कर्म ऐसे हैं कि उनका फल कालान्तर या जन्मान्तर में मिलता है ।

प्रश्न—हम बहुत से कर्मों का फल शीघ्र मिलता हुआ देखते हैं ।

उत्तर–कर्म दो प्रकार के हैं एक भोक्तव्य और दूसरे कर्त्तव्य । जैसे बोना और काटना दोनों कर्म हैं पर बोने का फल देर से और काटने का फल शीघ्र मिलता है । इनमें बोना कर्त्तव्य और काटना भोक्तव्य है अतएव जो कर्म कर्त्तव्य है अर्थात् आगे के वास्ते किये जाते हैं उसका फल देर से मिलता है और जो भोक्तव्य हैं अर्थात् भोगने के लिए हैं उनका फल शीघ्र मिलता है । वादी फिर शङ्का करता है:—

कायान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥४६॥ (पूर्व पक्ष)

फल के लिए जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं वे यहाँ ही नष्ट हो जाते हैं जब वे आप ही मिट जाते हैं तो कालान्तर या जन्मान्तर में क्या फल उत्पन्न करेंगे । क्योंकि नष्ट कारण से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता अतएव जन्मान्तर में कर्म फल का मानना ठीक नहीं । अब इसका उत्तर देते हैं:–

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥४७॥ (उत्तर पक्ष)

जिस फल की इच्छा से पहले किसान भूमि को जोतता पानी देता और बीज को बोता है ये सब कर्म फलोत्पत्ति से पहले, नष्ट हो जाते हैं । इनके नष्ट हो जाने पर बीज मिट्टी और जल के परमाणुओं से बढ़ता रहता है फिर क्रमश-पत्ते डालियां, फूल और

फल आते हैं। ऐसे ही प्रत्येक कर्म से धर्माऽधर्म का रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं फिर वे अन्य कारणों से परिपुष्ट होकर शुभाशुभ फल उत्पन्न करते हैं। वादी फिर शङ्का करता है।

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥४८॥ (पू० पक्ष)

उत्पत्ति से पहले कर्मों के फल को न तो सत् कह सकते हैं, न असत् और न सदसत् ही कह सकते हैं, क्योंकि जो फल आगामी काल में होगा, उसको सत् इसलिये नहीं कह सकते कि वह अब विद्यमान नहीं है। जब विद्यमान नहीं है तो उसके लिये जो कर्म किये जायेंगे, उनमें और आगामी होने वाले फल में कार्य कारण-भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानें, तो ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक कार्य का कारण उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान् होता है। यदि सत् असत् दोनों मानें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि एक पदार्थ में दो विरुद्ध धर्म रह नहीं सकते तात्पर्य यह कि उत्पत्ति से पहले किसी वस्तु का अभाव नहीं हो सकता, यदि अभाव होता तो वह उत्पन्न क्यों होता। न भाव ही हो सकता है क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व उसका भाव होता तो फिर उत्पत्ति की आवश्यकता ही न थी। सदसत् भी नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों का परस्पर विरोध है।

अब इसका उत्तर देते हैं:—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति धर्मकमसदित्यद्धोत्पादव्ययदर्शनात् ।४६। (उ०प०)

जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति से पहले असत् होता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। यदि सत् होता तो उत्पत्ति और नाश नहीं हो सकता था और यह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है कि घड़ा पहले नहीं था, कुम्हार ने बनाया फिर टूट गया। असत् के ही उत्पत्ति और नाश होते हैं, सत् के नहीं, इसलिये उत्पत्ति से पूर्व प्रत्येक पदार्थ असत् है।

इसकी पुष्टि करते हैं:—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥५०॥ (उ० प०)

बुद्धि और प्रमाण से कारण का नियत होना और उससे कार्य का उत्पन्न होना सिद्ध होता है इस लिये प्रत्येक पदार्थ कार्य रूप में आने से पहले असत् है। प्रत्येक कारण में अपने अनुरूप ही कार्य उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यदि उत्पत्ति से पहले भी उसका भाव माना जावे तो फिर उत्पत्ति का होना नहीं बन सकता। क्योंकि जुलाहा यह जान कर ही कि कपड़ा नहीं है, सूत से कपड़ा बनता है यदि बनने से पहले भी कपड़ा मौजूद हो तो फिर उसका बनाना कैसा ? इस लिये सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है, यही सिद्धांत ठीक है वादी शङ्का करता है:—

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥५१॥ (पू०प०)

जिस शरीर ने कर्म किया है, उसके नाश हो जाने पर फल की प्राप्ति किस को होगी ? इसमें वृक्ष का जो दृष्टान्त दिया गया है, वही ठीक नहीं क्योंकि जल सींचना और फल खाना ये दोनों बातें एक ही वृक्ष के आश्रित हैं, अर्थात् जिस वृक्ष में पानी सींचा जाता है, वह कालान्तर में फल खाता है, परन्तु दृष्टांत में यह बात नहीं है, वहाँ जिस शरीर से कर्म किया जाता है, वह तो यहीं नष्ट हो जाता है, दूसरा शरीर उसके किये हुए कर्मों के फल को भोगता है, इस लिए आश्रयभेद होने से यह दृष्टांत ठीक नहीं।

अब इसका उत्तर देते हैं:-

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥५२॥ (उ०प०)

कर्म जो धर्माऽधर्म भेद से दो प्रकार का है, इच्छा से सम्बन्ध रखता है और इच्छा आत्मा का गुण है। शरीर तो केवल उनका अधिष्ठान मात्र है इस लिये कर्म और उसका फल ये दोनों आत्मा से ही सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा दोनों शरीर में एक ही रहता है इस लिये

वृक्ष का दृष्टांत सर्वथा उपयुक्त है। वादी पुनः शङ्का करता है:—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात्॥५३॥[पू०प०]

एक ही आश्रय में कर्म और कर्म फल होने का नियम नहीं, क्योंकि स्त्री पुत्र आदि भी कर्मों का फल माने जाते हैं, और वे अपने आत्मा से भिन्न हैं अपना आत्मा उस फल का आश्रय नहीं। इसलिये कर्म और फल इन दोनों का आश्रय एक नहीं किन्तु भिन्न २ हैं इस लिए वृक्ष का दृष्टात अयुक्त है। इसका उत्तर देते हैं—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः॥५४॥(उ०)

पुत्रादि के सम्बन्ध से सुखादि की उत्पत्ति होती है, इस लिये पुत्रादि में फल का उपचार माना गया है। जैसे उपनिषदों में अन्न को प्राण कहा गया है वास्तव में अन्न प्राण नहीं किन्तु प्राण का पोषक होने से उसी को अन्न कहा गया है। इसी प्रकार पुत्र सुख नहीं किन्तु सुख का बढ़ाने वाला है, इसलिये उस में फल का उपचार कियो गया है। फल की परीक्षा समाप्त हुई। अब दुःख की परीक्षा की जाती है—

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः॥५५॥[उ०]

शरीर का प्रगट होना जन्म है और शरीर तीन प्रकार के हैं [१] उत्तम [२] मध्यम [३] अधम। उत्तम शरीर देवताओं का होता है, मध्यम मनुष्यों का और अधम असुरों का या तिर्यक जन्तुओं का। यद्यपि इनमें दुःख का तारतम्य है अर्थात् देवताओं के शरीर में दुःख बहुत कम है, मनुष्यों में दुःख बराबर है और अधम शरीर में दुःख बहुत है, तात्पर्य यह कि जन्म ही दुःख का कारण है इसका मूलच्छेद बिना तत्व ज्ञान के नहीं हो सकता।

अब इस पर आक्षेप करते हैं—

न सुखस्यांतरालनिष्पत्तेः॥५६॥[पू० पक्ष]

मनुष्य को इस जीवन में केवल दुःख ही नहीं है किन्तु उस में सुख भी मिला हुआ है। क्योंकि दुःख सुख दोनों सापेक्ष्य है दुःख के पश्चात सुख अवश्य होता है और यदि दुःख न हो तो किसी को सुख का अनुभव ही नहीं हो सकता। अतएव सबको दुःख रूप बतलाना ठीक नहीं। अब इसका उत्तर देते हैं:—

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतःपर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥ (उ० पक्ष)

सुखार्थी मनुष्य जो सुख के लिये प्रवृत्त होता है वह पर्येषण दोष से सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य संसार में कुछ न कुछ दुःख अवश्य रखता है। चाहे अविद्या के मद से वह उसके प्रभाव का अनुभव न करे। जैसे कोई विक्षत पुरुष मद्य पीकर क्षत की पीड़ा को अनुभव न करे, परन्तु उसे दुःख से मुक्त नहीं कह सकते, ऐसे ही संसार के प्रत्येक सुख का परिणाम दुःख है।

प्रश्न—पर्येषण दोष किसे कहते हैं?

उत्तर–विषयों में अत्यन्त लिप्सा को पर्येषण दोष कहते हैं। जिस वस्तु के प्राप्त करने का यत्न किया जाता है प्रथम तो वह प्राप्त नहीं होती या प्राप्त होकर नाश हो जाती है और उसकी आशा में भी बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ता है और फिर आशा पूरी होकर भी तृप्ति या शान्ति नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है दूसरी और उत्पन्न हो जाती है। किसी को संसार का साम्राज्य भी मिल जावे, तब भी जब तक इच्छा है उसको शान्ति नहीं होती इसलिए राग दुःख का और केवल वैराग्य ही सुख का कारण है। इसकी पुष्टि करते हैं।

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥५८॥ (उत्तर पक्ष)

यदि कोई कहे कि सुख को भी दुःख समझना ठीक नहीं। सुख के लिये प्रयत्न करते हुए यदि कोई दुःख उत्पन्न होगा तो उसका भी उपाय हो सकता है, यह बुद्धिमत्ता नहीं कि दुःख की आशंका में सुख को भी त्याग दिया जावे। इसका उत्तर यह है कि अविद्या के

कारण लोग दुःख को ही सुख समझ रहे हैं, जब दुःख के कारण अधिक इकट्ठे हो जाते हैं तब उनका उपाय भी कठिन हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान् को पहले ही सोचना चाहिए कि हम किस को सुख मान रहे हैं, वास्तव में इसका परिणाम हमारे लिए दुःख जनक है। जब तक मनुष्य विवेक के शस्त्र से ममता की फांसी को नहीं काटता, तब तक उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता और वैराग्य के अभाव में कोई सच्चे सुख का अधिकारी नहीं हो सकता। दुख की परीक्षा समाप्त हुई अब अपवर्ग मोक्ष की परीक्षा की जाती है। प्रथम वादी शंका करता है।

ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥५९॥ [पूर्वपक्ष]

ऋण क्लेश और प्रवृत्ति के लगाव से मोक्ष सिद्ध नहीं होता प्रत्येक मनुष्य के ऊपर तीन ऋण होते है, (१) देवऋण (२) ऋषि ऋण (३) पितृऋण जब तक मनुष्य इन तीनों ऋणों को नहीं चुका लेता मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता यह शास्त्र की आज्ञा है आपने अल्प जीवन में मनुष्य इन्हीं ऋणों को नहीं चुका सकता फिर उसे मोक्ष के लिये समय कहां मिल सकता है। अविद्यादि क्लेशों के लगाव से भी मोक्ष की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य यावज्जीवन क्लेशों में बंधा हुआ रहता है और मरणान्तर भी क्लेश संस्कारों के अनुबन्ध से जन्म लेता है, तब मोक्ष साधन के लिये समय कहां रहा। प्रवृत्ति के लगाव से भी मोक्ष का होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रत्येक प्राणी यावज्जीवन मन वाणी और शरीर से कुछ न कुछ कर्म करता हुआ धर्माऽधर्म का उपार्जन करता ही रहता है, फिर मोक्ष के लिये अवसर कहां।

अब इसका उत्तर देते हैं—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुण शब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥६०॥ (उ० पक्ष)

शास्त्र में जहां मनुष्य के ऊपर तीन ऋण बतलाये गए हैं वहां

ऋण शब्द का प्रयोग औपचारिक है। तात्पर्य्य यह है कि जैसे देवऋण का चुकाना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है ऐसे ही ऋण के तुल्य देव, ऋषि और पितरों की पुजा करना भी प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन कर्मों की आवश्यकता और प्रशंसा जतलाने के लिये वहां गौणिक रिणशब्द अनुवाद किया गया है। इसलिये वे लोग जो पुत्रेषण विशेषणा और लोकेषणा इन तीनों एषणाओं से निवृत्त हो गये हैं चाहे वे किसी आश्रम में हों इन तीनों रिणों के लिये बाध्य नहीं हो सकते। ऐसे लोगों के लिये शास्त्र यह भी आज्ञा देता है जिस दिन उनको वैराग्य उत्पन्न हो मोक्ष के लिये यत्न करें। अतएव रिण विधायक वाक्यों के अर्थवादपरक होने से मोक्ष का अभाव नहीं हो सकता। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:-

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥ ६१ ॥ (उ०प०)

प्रत्येस शास्त्र उसी बात का वर्णन करता है, जो उसका प्रतिपाद्य विषय है दूसरे का प्रतिपाद्य में वह हस्तक्षेप नहीं करता। ब्राह्मण ग्रन्थ जिन में अधिकतर यज्ञ का वर्णन है ग्रहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखते हैं। इस लिये उनमें विशेषकर गृहस्थ के धर्मों का ही वर्णन है परन्तु वे अन्य आश्रम या उनके धर्मों का खण्डन नहीं करते इसी प्रकार वेदांतशास्त्र उपनिषदादि जो अधिकतर मोक्ष धर्मों का विधान करते हैं वे गृहस्थादि आश्रम या उनके धर्मों के विरोधी नहीं। अतएव गृहस्थ के अधिकार में रिणादि का विधान होने से मोक्ष शास्त्र में कुछ बाधा नहीं पड़ती फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:—

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेध ॥६२॥ (उ०प०)

संन्यासी के लिये आहवनीयादि तीनों अग्नियों के त्याग का श्रुति में उपदेश किया गया है अर्थात् संन्यासी आत्मा में तीनों अग्नियों का समारोपण कर देवे। इसलिये संन्यासाश्रम में अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के न करने से पाप नहीं होता। क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का फल स्वर्ग है, संन्यासी को स्वर्गफल की कामना नहीं होती। इसलिये

जिस फल की इच्छा नहीं उसके लिये बीज बोने की क्या आवश्यकता है ? अतएव वीतराग मुमुक्षु के लिये रिणादि बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं ।

प्रश्न शास्त्र में यह जो कहा है कि बिना तीन रिणों को चुकाये जो मोक्ष की आशा करता है उसकी आशा कभी पूरी नहीं होती इस की क्या गति होगी ?

उत्तर—सर्व साधारण के लिये जो सांसारिक कामनाओं में अनुरक्त है शास्त्र की आज्ञा है परन्तु जो संसार से विरक्त हो गए हैं और तीनों एषणाओं का जिन्होंने त्याग कर दिया है निन्दा स्तुति मानापमान और हर्ष शोक आदि द्वन्द्व जिन पर अपना अच्छा या बुरा प्रभाव नहीं डाल सकते ऐसे तत्वदर्शी और आत्मक लोगों के लिये शास्त्र में इस नियम का अपवाद भी मौजूद है. अतएव ऐसे लोगों के लिये रिणादिक बन्धन नहीं है । अब क्लेशानुबन्धन का उत्तर देते हैं :—

सुषुप्तस्यस्वप्नादर्शनेक्लेशाभावादपवर्गः ॥६३॥ (उ०पक्ष)

जैसे गाढ निन्द्रा में सोये हुए पुरुष को इन्द्रिय और मन का विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने से सुख दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता ऐसे ही मुक्तावस्था में केवल आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने से और रागानुबन्ध के टूट जाने से दुःख का अभाव हो जाता है । अएतव मोक्ष में जब क्लेश रहता ही नहीं तब वह उसका बाधक कैसे हो सकता है । मोक्ष में प्रवृत्ति का बन्धन भी नहीं रहता इसका अगले सूत्र में दिखाते हैं ।

न प्रवृत्तिःप्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥६४॥ (उत्तर)

रागद्वेष और मोह ये तीन दोष क्लेश के कारण हैं ये तीनों दोष जिनके निवृत्त हो जाते हैं उसकी प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं होती प्रवृत्त बन्धन का कारण नहीं होती है जो राग से उत्पन्न होती है और जो निष्काम प्रवृत्ति है वह कभी बन्धन का कारण नहीं हो सकती अब इस पर शंका करते हैं :—

न क्लेशसन्ततेःस्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥ (पूर्वपक्ष)

क्लेश सन्तति दुःखादि जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं फिर उसका नाश किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि स्वाभाविक गुणों का नाश नहीं होता और जिसका नाश हो वह स्वाभाविक नहीं इसका आंशिक समाधान करते हैं:—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यानित्यत्वम् ।६६।[पू०प]

किसी पदार्थ की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव अनित्य होता है अर्थात किसी वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व जो उसका अभाव है उसकी उत्पत्ति का कोई कारण और समय नहीं । परन्तु उसका नाश उस वस्तु के उत्पन्न होने से हो जाता है अर्थात अब वह अभाव नहीं रहता। ऐसे ही क्लेश स्वाभाविक होने पर भी नाश हो सकता है। इससे मुक्ति का होना सम्भव है। वादी फिर कहता है:—

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥६७॥ [पूर्व पक्ष]

जैसे परमाणुओं में श्यामता स्वाभाविक हैं, किन्तु वह अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाती है ऐसे ही क्लेश सन्तति स्वाभाविक होने पर भी अनित्य हो सकती है। इन दोनों हेतुओं को जो ऊपर के सूत्रों में दिए गए हैं और जिनमें स्वाभाविक गुण का नाश माना गया है अपर्याप्त समझ कर सूत्रकार अब अपना मत प्रकाश करते हैं:—

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्चा रागादीनाम् ॥६८॥ [उत्तर]

रागादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति का कारण संकल्प है तत्वाज्ञान के होने पर जब सारे संकल्प और विकल्प निवृत्ति हो जाते हैं, तब कारण के अभाव में रागादि कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकते । इसलिये रागादि का प्रभाव से अनादि होना तो सम्भव है परन्तु स्वरूप से अनादि कभी नहीं हो सकते अतएव ऋण क्लेश और प्रवृत्ति ये तीनों मोक्ष के साधक नहीं हो सकते ।

॥ चतुर्थाऽध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयमान्हिकम् ।

अपवर्ग की परीक्षा समाप्त हुई अब दूसरे आह्निक में तत्वज्ञान की परीक्षा आरम्भ की जाती है:—

दोषनिमित्तानां तत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥ (उत्तर पक्ष)

शरीर से लेकर दुःख तक जो दश प्रमेय गिना आये हैं उनकी उत्पत्ति दोषों से होती है। जब तत्वज्ञान होता है तब जीवात्मा को इनमें अहंकार नहीं रहता अर्थात् मैं शरीर हूं या इन्द्रियादि का समुदाय हूं यह भाव नहीं रहता इसलिये शरीरादि की आवश्यकताओं को भी वह अपनी आवश्यकता समझ कर उनसे उदासीन हो जाता है अर्थात् उसे किसी सांसारिक पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा शरीरादि के लिये है आत्मा के लिये नहीं शरीरादि में आत्म बुद्धि रखता हुआ ही मनुष्य विषयों में अनुरक्त होता है। तत्वज्ञान से जब वह यह जान लेता है कि न शरीरादि मेरे हैं और न मैं इनका हूं तब उसका अहंकार मिट जाता है। अहंकार के मिट जाने से उसको शरीरोपगत सुख दुःखादि का अनुभव भी नहीं होता। यदि होता भी है तो वह उसको स्वभाविक धर्म समझकर उससे प्रसन्न या खिन्न नहीं होता। रागादि के कारण क्या हैं, जिनके मिथ्याज्ञान से दोष उत्पन्नहोतेहैं।

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ॥२॥ [उत्तर]

रूपादि विषय ही संकल्प के होने से रागादि दोषों के उत्पन्न होने का कारण होते हैं अर्थात् अनुकूल विषयों से राग करता है प्रतिकूल से द्वेष। जब तक मनुष्य इन रूपादि बाह्य विषयों से उपरत नहीं होता तब तक अहंकारादि आन्तरिक दोष मिट नहीं सकते। इसलिये शुभ संस्कारों से पहले संकल्प को शुद्ध करना चाहिये क्योंकि बिना संकल्प शुद्धि के बाह्य विषयों से उपरोग नहीं होता और बिना बाह्य विषयों से उपरोग हुये अहंकारादि आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश नहीं हो सकता अब दोष का विशेष कारण बतलाते हैं।

तन्निमित्तन्त्ववयव्यभिमानः ॥३॥ (उ० प०)

सङ्कल्पकृत रूपादि विषय तो रागादि दोषों के साधारण कारण हैं, परन्तु इनका विशेष कारण अवयवी का अभिमान है। "यह देह मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह पुत्र मेरा है, इत्यादि भौतिक पदार्थों में जो ममत्व बुद्धि का होना है, यह अवयवी का अभिमान कहलाता है। जब तक यह अभिमान नहीं टूटता अर्थात् मनुष्य यह नहीं समझता कि न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है, यह सब सम्बन्ध कल्पित और क्षणिक हैं, तब तक राग द्वेष का बन्धन जिसमें संसारी पुरुष जकड़े हुये हैं, छूट नहीं सकता। इसलिये मुमुक्षु पुरुष को केवल बाह्य विषयों से उपरत हो कर संतुष्ट न होना चाहिये, किन्तु इस अहङ्कार के कीड़े को शरीर से निकाल कर फैंकना चाहिए. जो सारे शरीर में दोषा का विष फैला देता है अब अवयवी की परीक्षा करते हैं। प्रथम संदेह का कारण बतलाते हैं।

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥४॥ (पू० प०)

जहाँ सत और असत दो प्रकार का ज्ञान होने से विद्या दो,प्रकार की है, वहाँ इन दोनों का ज्ञान न होने से अविद्या भी दो प्रकार की है। इसलिए एक अवयवी के होने से सन्देह होता है उसका ज्ञान सत है या असत ? यदि यह कहा जावे कि अवयवी का ज्ञान नहीं होता वह कल्पित है तो अविद्या के दो भेदों में होने से सन्देह होता है इसी प्रकार यदि उस का ज्ञान माना जावे तो भी विद्या के ही भेद होने से सन्देह होता है। इसलिए अवयवी सन्दिग्ध है। आगे इसका देते है।

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥५॥

दूसरे अध्याय में हेतुओं से अवयवी का होना सिद्ध कर चुकेजब तक उन हेतुओं का खण्डन न किया जावे तब तक अवयवी के होने में सन्देह नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष में भी अवयवी असन्दिग्ध है।

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि संशयानुपपत्तिः ॥६॥ (उ०प०)

यदि अवयवी का अभाव मान लिया जावे तो भी उसमें सन्देह

नहीं हो सजता क्योंकि जो वस्तु है उसी में सन्देह होता है और जो वस्तु नहीं उसमें संदेह कैसा ? अब वादी आक्षेप करता है—

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः॥७॥ (पूर्वपक्ष)

प्रत्येक वस्तु में परिणाम भेद से और एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु का सम्बन्ध न होने से अवयवी सिद्ध नहीं होता और जिस देश में अवयव रहते हैं उसमें अवयवों के रहने से नहीं दूसरे अवयवों के रहने से किंतु प्रत्येक के भिन्न २ देशों से अवयवों का एक दूसरे से सम्बंध नहीं हो सकता, जब अवयव ही भिन्न २ हैं तो उनका एक अवयवी कैसे सिद्ध हो सकता ! फिर आक्षेप की पुष्टि करते हैं—

तेषु चावृतेरवयव्यभाव ॥८॥ [पूर्वपक्ष]

अवयवों में भी अवयवी के रहने से अवयवी का अभाव मानना पड़ता है क्योंकि अवयवों के भिन्न २ होने से उनमें एक अवयवी नहीं रह सकता। जब एक २ अवयव में अवयवों का अभाव है तो सब अवयवों में भी उसका अभाव मानना पड़ेगा। इसलिए अवयवी कोई वस्तु नहीं। फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्ते ॥ ९ ॥ (पूर्वपक्ष)

यदि यह मान लिया जावे कि अवयवों से अवयवी भिन्न है वह विभक्त होकर एक एक अवयव में रहता तो उसका अवयवों से भिन्न होना सिद्ध नहीं होता। इसलिये अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है फिर आक्षेप की पुष्टि करते हैं:—

न चावयव्यवयवा ॥१०॥ (पूर्वपक्ष)

यदि यह मान लिया जाय कि अवयवों और अवयवी में भेद नहीं है अवयव ही अवयवी हैं तो यह हो नहीं सकता क्योंकि तंतु को वस्त्र और स्तम्भ को गृह कोई नहीं मान सकता। अब सूत्रकार इन आक्षेपों का उत्तर देते हैं:—

एकस्मिन्भेदाभावाद्भेदशब्दमयोगानुपपत्तेरप्रश्नः॥११॥ (उ०प०)

यह प्रश्न कि प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है या उसका कोई भाग ? अयुक्त और असंगत है। क्योंकि अवयवयों के समुदाय को अवयवी कहते हैं उसमें और अवयवों में कोई भेद नहीं है शर्करा का एक अणु भी शर्करा ही है नमक की एक डेली भी नमक ही कहलाती है। जब अवयव और अवयवों में भेद हो नहीं है तो भेद की कल्पना करके यह प्रश्न करना कि "अवयवी सब देशों में रहता है व एक देश में, नहीं बन सकता। अब दूसरे हेतु का खण्डन करते हैं—

अवयवान्तभवेऽप्यवृत्तेरहेतु, ॥१२॥ [उ०]

वादी ने एक अवयवी के दूसरे अवयवों में न होने से तो जो अवयवी का अभाव सिद्ध किया था वह भी ठीक नही क्योंकि अवयव और अवयवी में अन्योन्याश्रय सम्बंध है और सम्बंध तभी रह सकता है जब कि अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्तमान हो इस पर आक्षेप करते हैं—

केशसमूहेतैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धि ॥१३॥ (पू०)

जैसे न्यून दृष्टि वाले पुरुष को एक बाल नहीं देखता, किंतु केशों का समूह दीख पड़ता है ऐसे ही एक अणु के दीखने पर भी अणु मूह घटादि का प्रत्यक्ष होता है इसलिए अवयवों का समुदाय भी अवयवी है। उससे भिन्न और कोई अवयवी नहीं। इसका उत्तार देते हैं—

स्वविषय नतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रविति ॥१४॥ (उ०)

तीव्र होने की दशा में इंद्रिय अपने विषय को शीघ्र गृहण करते हैं, मंद होने पर देर से गृहण होता है। परंतु इंद्रियों की यह तीव्रता और मंदता केवल अपने विषयों में होतीहै, इंद्रियों के विषयों में नहीं। तीव्र दृष्टपुरुष रूप को गृहण कर सकता है गंध रसादि को नहीं। पर

माणु सूक्ष्म होने से किसी इंद्रिय का विषय नहीं । इसलिये बिना संघात के प्रथक् २ एक २ अणु इंद्रिय का विषय नहीं । यदि अवयवी को अवयवों के संगीत से भिन्न कोई वस्तु न माना जावे तो अवयवी का ग्रहण भी इंद्रियों से न होना चाहिये । क्योंकि जब एक अणु नरवयव है तो उसका समुदाय भी अवयव नहीं हो सकता । अतएव अवयवी अवयव समुदाय से भिन्न है और वही अवयव समुदाय को इंद्रियग्राह्य बनता है । इस पर आक्षेप करते हैं—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥१५॥ (पूर्व पक्ष)

अवयवी अवयवों के सब देशों में है वा एक देश में जैसे यह प्रश्न किया गया था, ऐसे ही यह प्रश्न भी हो सकता है कि अवयव अवयव के एक देश में रहता है वा जब देशों में. फिर अवयवों के भी अवयव परमाणुओं के विषय में भी यह प्रश्न होगा यहाँ तक कि प्रलय पर्यंत अर्थात अपने कारण में लीन होने तक यह प्रश्न होना चला जायगा और अंत में जाकर अभाव या शून्य ही मानना पड़ेगा । फिर यह संदेह उत्पन्न होगा कि अभाव या शून्य से भाव वा उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसका समाधान करते हैं—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥१६॥ उ०

अवयवी के विभाग कल्पित करके अवयवी के खंडन से जो अभाव सिद्ध किया जाता है यह ठीक नही क्योंकि यह हेतु निरवयव परमाणुओं का खण्डन नही कर सकता । वस्तु का विभाग करते २ जब उसका खण्डन हो सके तब उसे परमाणु कहते हैं और कारण में लीन होने का नाम नाश है जो कि कार्य का होता है । कारण रूप परमाणु का जो कि विभाग के आयोग्य है नाश नही होता । जब परमाणु का प्रलय नहीं है, तब अभाव किसी वस्तु का नही हो सकता । अब परमाणु का लक्षण कहते हैं—

परं वा त्रुटेः ॥१७॥ उ०

किसी वस्तु का विभाग करते २ जब वह उस दशा को पहुँचजावे कि फिर उसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कवते हैं। अत्र परमाणु के निरव्यव होने पर आक्षेप करते हैं—

आकाशव्यतिभेदानदनुपपत्ति ॥१८॥ (पूर्वपक्ष)

परमाणु का निरव्यव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परमाणु के भीतर आकाश मौजूद है और बाहर भी आकाश है। जबकि परमाणु व्याप्य है तो फिर वह निरव्यव क्योंकर हो सकता है। अतएव परमाणु अवयव होने से अनित्य है पुनः वादी कहता है—

आकाशात्सर्वगतत्वं वा ॥१६॥ [पूर्व पक्ष]

यदि परमाणु में आकाश का होना नहीं मानोगे तो आकाश सर्व व्यापक न रहेगा अब इसका उत्तर देते हैं—

अन्तर्वहिश्चकार्यद्रव्यस्याकारणान्तरवचनादकार्येतदभावः॥२०॥प०

भीतर और बाहर इन शब्दों का व्यवहार कार्य वस्तु और उसके भागों में हो सकता है परमाणु के कार्य न होने से उसमें यह व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि सूक्ष्म कारण का नाम जिसका विभाग न हो सके परमाणु हैं।

फिर इसी को पुष्टि करते हैं—

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥२१॥ (उ० प०)

कोई सायत्र पदार्थ आकाश की व्यापकता से रहित नहीं हो सकता। कठिन धातु और पाषाणादिक में भी आकाश विद्यमान है। इसका प्रमाण यह है कि सब पदार्थों में संयोग और शब्द की उत्पत्ति देखने में आती है।

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाऽऽकाशधर्मा ॥२२॥ उ०

अब आकाश के लक्षण कहते हैं—

किसी वेग से जाते हुए पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से टक्कर

खाकर लौटने का नाम व्यूह और उसका रुक जाना विष्टम्भ कहलाता है ये दोनों धर्म सावयव पदार्थों में होते हैं। आकाश निरवयव है, इस लिए उससे मिलकर न तो कोई पदार्थ लौट सकता है और न रुक ही सकता है, व्यूह और विष्टम्भ न होने से ही आकाश विभु है अर्थात् उसकी गति की कहीं अवराध नहीं। अतएव आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयव और नित्य होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अब वादी फिर शङ्का करता है:—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥२३॥ (पू०प०)

जितने परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्य हैं, उनका कुछ न कुछ आकार देखने में आता है, चाहे वह त्रिभुज हो या चतुर्भुज यावत्तुला कार या पिण्डाकार इत्यादि। और जिसका आकार होता है, वह संयुक्त है। परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् है, इसलिए वह निरवयव नहीं हो सकता। इसी की पुष्टि करते है:—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥ (पूर्वपक्ष)

संयोग भी परमाणुओं का धर्म है जब तीन परमाणु आपस में मिलेंगे तो दो इधर उधर होंगे और एक बीच में। इससे उनके पर और अपर भाग भी कह लायेंगे। जब परमाणुओं का संयोग होता है और उसके पर और अपर भाग भी होते हैं तब वे निरवयव क्यों कर हो सकते है? अब इसका समाधान करते हैं:—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थाऽनुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥२५॥

जो पदार्थ सावयव है और जिसमें संयोग होता है, वह आकारवान् और अनित्य है। दोनों हेतुः अनवस्था दोषयुक्त हैं। जिसकी कोई स्थिति न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यदि परमाणु को परिच्छिन्न न माना जावे तो उसमें अनवस्था दोष आवेगा। क्योंकि अपरिच्छिन्न होने से उसके विभाग होते ही चले जायेंगे, कहीं पर उनकी समाप्ति न

होगी। इसलिये अनवस्थित होने से यह हेतु माननीय नहीं। अब जब विज्ञानवाद अर्थात् सब पदार्थ भावाश्रित हैं, अर्थात् बुद्धि में ही ठहरे हुए हैं, वास्तव में कुछ नहीं, की परीक्षा की जाती है:—

बुद्ध्या विवेचनात् तु भावानांयाथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥२६॥

यदि कपड़े में से एक २ तार अलग करके देखें तो कपड़ा सिवाय तारों के और कोई वस्तु ही नहीं ठहरती अतएव कपड़ा केवल बुद्धि का विषय है। वास्तव में कुछ नहीं। प्रत्येक वस्तु की यही दशा है कि वह वस्तु तो कुछ नहीं, पर उसका ज्ञान होता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु का जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है। या यों समझो कि ज्ञान के सिवाय और किसी पदार्थ की सत्ता वास्तविक नहीं। क्योंकि जो कुछ मालूम होताहै वह ज्ञान ही से है और ज्ञान ही है इसलिये विज्ञान ही एक पदार्थ है और कुछ नहीं।

प्रश्न—हम तो ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञेय की सत्ता प्रत्यक्ष देखते हैं, यदि ज्ञेय न हो तो किसका ज्ञान हो? जैसे हमारे सामने यह रथ गाड़ी खड़ी है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है?

उत्तर—गाड़ी कोई पदार्थ नही, उसकी रचना केवल ज्ञान ने की है। पहिया धुरा और बम्ब आदि का नाम गाड़ी रख लिया है। इस प्रकार पहिये आदि भी कोई वस्तु नहीं। एक गोल चक्र और कई डंडी का नाम पहिया रख लिया है। इसलिये सब पदार्थों की रचना ज्ञान करता है। अब इसका उत्तर देते हैं:—

व्याहतत्वादहेतुः ॥२७॥ (उ० पक्ष)

जब किसी पदार्थ की सत्ता है, तब बुद्धि से उसका ज्ञान होता है और जो मिथ्याज्ञान होता है वह भी दो सत्ताओं को विद्यमाता में होता है। यदि दो सत्तायें विद्यमान न हो तो किसका ज्ञान किस में होगा? क्योंकि मिथ्याज्ञान का अर्थ यह है कि अन्य पदार्थ का ज्ञान होना।

जब कोई पदार्थ सिवाय ज्ञान के है ही नहीं तो किसका ज्ञान किस में होता है ? और यह जो हेतु दिया है कि तारों से पृथक् कपड़ा कोई वस्तु नहीं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि कपड़े को तार कोई नहीं कहता और न कपड़े का काम तार दे सकता है। इसलिए परस्पर विरुद्ध होने से वादी का हेतु अहेतु है। यदि तारों से कपड़ा पृथक् वस्तु है तो उनके बिना उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर देते हैं—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥२८॥ (उ० पक्ष)

सूत की तारें जिससे कपड़ा बनता है, कपड़े का आश्रय है और वही उसकी उत्पत्ति का कारण भी है। आश्रित सदा अपने आश्रय के अधीन रहता है, इसलिये कपड़े का सूत के तारों से पृथक् ग्रहण नहीं होता किन्तु उसके साथ ही उसका भी ग्रहण किया जाता है। परन्तु यह आश्रय आश्रत का भेद बुद्धि से जाना जाता है, इसलिये वे एक नहीं हैं। जिन पदार्थों में आश्रय और आश्रित सम्बन्ध नहीं है, उसका ग्रहण होता है। फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:—

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥२६॥ (उ०प०)

जो वस्तु जैसी है, उसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वैसा ही ज्ञान होता है और जो बात प्रमाण सिद्ध हो, उसको मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता क्योंकि प्रमाण अर्थ का प्रत्यायक है। यह अमुक वस्तु है, ऐसी है, इतनी है इत्यादि वस्तुवाद को प्रमाण सिद्ध करता है, अतः केवल विज्ञानवाद ठीक नहीं और भी हेतु देते हैं:—

प्रमाणोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् ।३०। (उ०प०)

पदार्थों को शून्य या कल्पित मानना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रमाण से तुम शून्य या कल्पित सिद्ध करोगे उसकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी उसका भाव मानने से फिर सब का अभाव क्योंकर सिद्ध होगा। एक वस्तु का भी भाव होने से सब का शून्य या कल्पित होना न रहेगा। यदि बिना प्रमाण के ही सब को शून्य या कल्पित माना जावे तो इसे

कोई बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा। क्योंकि बिना प्रमाण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। वादी शंका करता है:—

स्वप्नविषयाभिमानवदयप्रमाणप्रमेयाग्यभिमानः ॥३१॥ [पू०]

जैसे स्वप्न के प्रमेय पदार्थ कल्पित होते हैं, परन्तु उनका अभिमान होता है ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय का अभिमान भी कल्पित है, वास्तव में कुछ नहीं। इस पर एक दृष्टान्त और देते हैं:—

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥३२॥ (पू०)

या जैसे भ्रम से मायिक गन्धर्वनगर या मृगतृष्णा का मिथ्याज्ञान होता है ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी कल्पित और वस्तुशून्य है। इसका उत्तर देते हैं:—

हेत्वभावादसिद्धिः ॥३३॥ [उत्तर पक्ष]

इस प्रतिज्ञा के लिये कि स्वप्नपदार्थ कल्पित हैं, कोई हेतु नहीं है और बिना हेतु के प्रतिज्ञा करने से कोई बात सिद्ध नहीं होती। यदि यह हेतु दिया जावे कि जाग्रत अवस्था में उनके अभाव से उनका मिथ्या होना सिद्ध होता है, तो जाग्रदवस्था के विषयों का भाव मानना पड़ेगा, जिससे बाह्य पदार्थों का भाव सिद्ध होगा। जब बाह्य सिद्ध हो गये तो उन्हीं का प्रतिबिम्ब स्वप्न पदार्थ भी है (चाहे भ्रम से कुछ का कुछ दीखें) यदि कहा जावे कि जाग्रदवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं तो स्वप्न पदार्थों का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि जाग्रदवस्था को सत्य मान कर स्वप्नावस्था को सत्य मान कर स्वप्नावस्था का असत्य होना कहा जाता है। जब जाग्रदवस्था ही मिथ्या है तो फिर स्वप्नावस्था का मिथ्या होना किस की अपेक्षा से जानते हो? किसी वस्तु के भाव से उसके अभाव का ज्ञान होता है। जैसे बैल के शृङ्ग होने से मनुष्य के शृङ्ग का अभाव कहा जाता है। यदि किसी के सींग होते ही नहीं तो उनको हेतु में रखकर कौन मनुष्य के सींगों का अभाव सिद्ध करता।

स्वप्न में जो मिथ्याज्ञान होता है, उसका कोई कारण होना चाहिए जब उसका कारण जाग्रत् का ज्ञान है तो फिर कल्पित कहाँ रहा । अतएव कब स्वप्नाभिमान ही निमूल नहोंतो फिर प्रमाण प्रमेयाभिमान क्योंकर कल्पित हो सकता है । स्वप्नाभिमान कैसे होता है,इसको दिखलाते हैं-

स्मृतिसंङ्कल्पवच्च स्वप्नविपयभिमानः ॥३४॥ [उ०]

जिन कारणों से स्मृति और संकल्प उत्पन्न होते हैं,उन्हीं कारणों से स्वप्नाभिमान भी होता है, अर्थात् जिन पदार्थों का पहले ज्ञान हो चुका हो, उनके संस्कार मन में विद्यमान होने से स्वप्न में उनका भान होता है, जो वस्तु दृष्टया श्रुत न हो उसका स्वप्न में भी भान नहीं होता । यहाँ दृष्ट से अभिप्राय ज्ञात से है । ज्ञात पदार्थों को जब स्वप्न में बाह्य शरीर और इन्द्रिय काम करने से रुक जाते हैं, सूक्ष्म शरीर और मन उनको स्मरण करता है, यही स्वप्न कहलाता है । यदि स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो स्वप्नाभिमान कहना बन ही नहीं सकता था । तात्पर्य यह है कि जैसे स्मृति और सङ्कल्प पूर्वज्ञात विपयों को सिद्ध करते हैं ऐसे ही स्वप्नाभिमान भी जाग्रत के अनुभूत विषयों का स्मारक और साधक है ।

प्रश्न—हम प्रायःस्वप्न में अपना सिर कटा हुआ और अपने को आकाश में उड़ता हुआ देखते हैं । यह हमारा पहले देखा हुआ या सुना हुआ कब है ?

उत्तर-हमारे दूसरे के सिर कटे हुए और पक्षी आकाश में उड़ते हुए देखे या सुने हैं । इनके संस्कार हमारे मन में भरे हुए होते हैं । स्वप्न में इन्द्रियों का अर्थों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान नहीं होता किन्तु केवल मानसिक ज्ञान होता है और मन उस समय विकल्पवृत्ति के अधीन होकर उनकी यथेच्छ रचना करने लगता है अन्य के धर्म को अन्य में आरोप करने लगता है । अतएव स्वप्न भी एक प्रकार की स्मृति है, चाहे वह मिथ्या और बनावटी हो । भ्रान्ति का निरोध किस प्रकार हो सकता है:—

मिथ्यथोपलब्धिविनाशस्तत्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशव-त्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ [उत्तरपक्ष]

जिस प्रकार जाग्रदवस्था में स्वप्न का अभिमान नष्ट हो जाता है इसी प्रकार तत्वज्ञान के होने पर मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—जैसे दूर से स्थाणु को देखकर यह भ्रम होता है कि यह पुरुष है वा क्या ? ऐसे ही वस्तु कुछ और हो और उसको समझा कुछ और जावे, इसको मिथ्या ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—तत्वज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पदार्थ जैसा हो, उसको वैसा ही जान लेना तत्व-ज्ञान कहलाता है, स्थाणु और पुरुष को पुरुष समझना यही तत्वज्ञान है। कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता किंतु उसका तत्वज्ञान होने से मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे बालू को देखकर जो ज्ञान हुआ था, यथार्थ ज्ञान होने पर बालू नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसको भ्रमसे पानी समझ लिया था यह मिथ्याज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार जाग्रत में पदार्थ या उनके संस्कार नष्ट नहीं होते किन्तु स्वप्नविषयक उनका मिथ्याभिमान दूर हो जाता है।

अब मिथ्याज्ञान की सत्ता सिद्ध करते हैं—

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥३६॥ [उ०पक्ष]

जैसे वस्तुसत्ता अनिवार्य है अर्थात् उसका अभाव नहीं हो सकता वैसे ही मिथ्या बुद्धि का भी अभाव नहीं होता। केवल जिसको तत्वज्ञान हुआ है, उसके आत्मा में मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है, अन्यत्र उसकी उत्पत्ति और स्थिति देखी जाती है। अतः निमित्त और सद्भाव के होने से मिथ्याज्ञान की सत्ता है अब इसके भेद दिखलाते हैं:—

तत्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥३७॥ (उ०प०)

जो वस्तु हो उसको तत्व कहते हैं और जिसका उसमें ज्ञान हो उसे प्रधान कहते हैं। तत्व और प्रधान इन दो भेदों के होने से मिथ्या-बुद्धि दो प्रकार का है। जैसे रस्सी जो एक वस्तु है, तत्व है और सर्प जिसका उसमें ज्ञान होता है, प्रधान है। यही कारण है कि रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है। यद्यपि तत्वज्ञान के होने पर मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तथापि जब तक तत्वज्ञान नहीं होता, तब तक तो मिथ्याज्ञान की सत्ता (चाहे वह भ्रमात्मक ही हो) माननी पड़ती है। तत्वज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह दिखलाते हैं:—

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥ [उत्तरपक्ष]

इन्द्रियों के अर्थों से मन को रोककर आनन्दघन परमात्मा में लगाना समाधि है और समाधि के अभ्यास करने से तत्वज्ञान होत है। तत्वज्ञान के होने में मन की चंचलता सबसे बड़ी रुकावट है और जब तक इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक मन स्थिर नहीं होता। जब समाधि के अभ्यास से मन को विषयों से रोका जाता है, तब तत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वादी शङ्का करता है—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥३९॥ (पूर्व पक्ष)

समाधि का सिद्ध होना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा है क्योंकि इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि बिना इच्छा के भी मनुष्य को अपनी तरफ खींचते हैं जब तक इन्द्रिय वर्तमान है, और उनके विषय भी संसार में विद्यमान हैं, तब तक यह असम्भव है कि मनुष्य का मन उनसे हट सके। हटना तो एक तरफ यह तो उनसे तृप्त भी नहीं होता। इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं—

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥४०॥ [उत्तर पक्ष]

भूख, प्यास,सर्दी, गर्मी और बीमारी आदि उपाधियाँ जो स्वा-भाविक हैं,कभी मनुष्य को स्थिर चित्त नहीं होने देतीं। इन स्वाभाविक

रुकावटों के होने से समाधि का होना असम्भव है और समाधि के न होने से तत्वज्ञान नहीं हो सकता और तत्वज्ञान के अभाव में मुक्ति केवल कल्पित रह जाती है।

अब इसका उत्तर देते हैं—

पूर्वकृतफलानुबन्धत्तिदुत्पत्ति ॥४१॥ (उ० पत्त)

यदि मनुष्य वार २ समाधि के लिये यत्न करे तो पूर्वजन्मकृत कर्मों की सहायता से समाधि सिद्ध हो सकती है। यदि इस जन्म में न होगी तो अगले जन्म में अवश्य होगी। अभ्यास में बड़ी शक्ति है, जब लौकिक कार्यों में किया हुआ अभ्यास निष्फल नहीं जाता तब पारलौकिक कार्यों में यह निष्प्रभाव क्यों कर हो सकता है?

इसी की पुष्टि में और हेतु देते हैं—

अरण्यगुहापुलिनाऽऽदिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥४२॥ [उ०]

योगाभ्यास का जो उपदेश दिया गया है, वह प्रत्येक स्थान पर नहीं, किन्तु वन, गुहा, नदी तीर आदि एकांत स्थानों में बैठकर योगाभ्यास करना चाहिए। क्योंकि इन स्थानों में विक्षेप नहीं होते या बहुत ही कम होते हैं, जिनको अभ्यास से निवारण किया जा सकता है। अब शंका करते हैं—

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥४३॥ [पूर्व पत्त]

यदि बिना इच्छा के अर्थ मनुष्य को अपनी ओर खींच सकते हैं तो मुक्ति में भी कोई वैषयिक ज्ञान से नहीं बच सकता। क्योंकि मुक्ति में केवल इच्छा ही नहीं होती, संसार के विषय तो बिना इच्छा के भी मुक्त पुरुष को अपनी ओर खींचेंगे।

अब इसका उत्तर देते हैं—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥४४॥

मुक्तावस्था में स्थूल शरीर के न रहने से बाह्य विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य विषयों के ज्ञान के लिये चेष्टा और इंद्रियों

के आश्रय का होना आवश्यक है। परन्तु मुक्तावस्था में न तो शरीर ही रहता है न इन्द्रिय, इसलिये उनसे उत्पन्न होने वाला विषय ज्ञान क्यों कर हो सकता है ? इसी की पुष्टि करते है—

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ [उ० पक्ष]

ज्ञानोत्पत्ति का कारण जो शरीरादि का समुदाय है, धर्माधर्म सस्कारों के न रहने से जो शरीरोत्पत्ति का कारण है मोक्ष में उसका अभाव हो जाता है, इन्द्रियों के अभाव होने से उनके अर्थों का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिये मोक्ष में मिथ्या बुद्धि की आशंका करना ठीक नहीं। अब मोक्ष प्राप्ति के साधन दिखलाते हैं—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥४६॥ (उत्तरपक्ष)

योगशास्त्र के विध्यनुसार यम नियमादि आठ अङ्गों के द्वारा आत्म संस्कार करना चाहिये।

प्रश्न—योग के आठ अङ्ग क्या है ?

उत्तर—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि । इनकी व्याख्या योग-दर्शन के साधनपाद में की गई है।

प्रश्न—क्या योगाभ्यास के बिना मुक्ति नहीं हो सकती ?

उत्तर—योग के बिना तत्वज्ञान का होना कठिन है और तत्वज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सक्ती इसलिए मुमुक्षु को योगाभ्यास आवश्यक है

प्रश्न—योग और समाधि से तत्वज्ञान होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यदि कोई पूछे कि मिसरी के मीठा होने मे क्या प्रमाण है तो इसका उत्तर यह कि या तो जिन्होंने मिसरी को खाया है उनसे पूछो या खुद खाकर देखलो, इसके सिवाय और क्या प्रमाण हो सकता है ? इसी प्रकार या तो योगियों से जाकर पूछो या खुद योग करके देखो योग के अतिरिक्त और भी मोक्ष के साधन है—

ज्ञानग्रहणाभ्यास्तद्विद्यैश्चसह संवाद ॥४७॥ (उ०)

योगसाधन के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के लिए मुमुक्षु को अध्ययन श्रवण और मनन के द्वारा तत्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त बुद्धि को परिपक्व बनाने के लिए तत्वज्ञानियों के साथ सम्वाद भी करना चाहिए। क्योंकि बिना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और बिना सम्वाद के बुद्धि की परिपक्वता और संदेहों की निवृत्ति नहीं हो सकती। सम्वाद किस प्रकार करना चाहिए—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥४८॥ (उत्तर पक्ष)

प्रथम तो अपने से अधिक विद्वान् गुरु से संवाद करना चाहिये, वह संवाद शास्त्रार्थ की रीति पर नहीं, किन्तु जिज्ञासु होकर विनीत भाव से प्रश्न करना चाहिये। और उत्तर पाकर धृष्टता या हठ नहीं करना चाहिये। यदि कुछ सन्देह रहे तो नम्र भाव से विनीत शब्दों में उसे निवेदन करना चाहिए। गुरु के अतिरिक्त ज्ञान की दृढ़ता के लिये अपने सहाध्यायी तथा योग शिष्यों के साथ भी प्रेमपूर्वक संवाद करना चाहिये। इस प्रकार सम्वाद करने से तत्वज्ञान की प्राप्ति में सहायता मिलती है। यदि अपने से अधिक विद्वान् न मिले तो क्या करे:—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥४९॥ (उत्तर पक्ष)

जिसको तत्वज्ञान की जिज्ञासा हो यदि उसे पूरा तत्वज्ञानी गुरु न मिले तो दूसरे विचार शील पुरुषों से भी प्रतिपक्ष हीन होकर अर्थात् अपना कोई पक्ष स्थापन न करके संवाद करे। जिज्ञासु को आग्रह न करना चाहिये क्योंकि आग्रही मनुष्य सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता यदि तत्वज्ञान के लिये वाद ही उपयुक्त है तो जल्प और वितण्डा का उपयोग किस अवसर पर करना चाहिये:—

तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे वीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाऽऽवरणवत् ॥५०॥ (उत्तर पक्ष)

जिस प्रकार बीज बोने वाले का प्रयोजन केवल अन्न और फल से होता है, परन्तु उसकी रक्षा के लिये खेत के चारों तर्फ उसे कांटों की बाढ़ लगानी पड़ती है जिससे दुष्ट जन्तु उस अन्न या फल को उसका अभिप्रेत है किन्तु हेतुक और नास्तिक लोग अपने कुतर्क हेत्वाज्ञान को जटिल और संशयास्पद बना देते हैं उनसे उसकी रक्षा करने के लिये कभी २ जल्प और वितण्डा की भी आवश्यकता होती है। अतएव अपने अवसर पर ही इनका प्रयोग करना चाहिये न कि सर्वदा।

॥ इतिचतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥

अथ पञ्चममोध्याये प्रथमाह्निकम्।

पहले अध्याय में दिखला चुके हैं कि साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से अनेक प्रकार की जाति होती हैं जिनका सविस्तार वर्णन इस अध्याय में किया जाता है। जातियों के निम्नलिखित २४ भेद हैं।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्यविशेषोपपत्युपल-ब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा ॥ १ ॥

१—साधर्म्यसम, २—वैधर्म्यसम, ३—उत्कर्षसम, ४—अपकर्षसम, ५—वर्ण्यसम, ६—अवर्ण्यसम, ७—विकल्पसम, ८—साध्यसम, ९—प्राप्तिसम १०—अप्राप्तिसम ११—प्रसङ्गसम १२—प्रतिदृष्टान्तसम १३—अनुपत्तिसम १४—संशयसम १५—प्रकरणसम १६—हेतुसम १७—अर्थापत्तिसम १८ अविशेषसम १९—उपपत्तिसम २०—उपलब्धिसम २१—अनुपलब्धिसम २२—नित्यसम २३—अनित्यसम २४—कार्यसम। ये २४ जाति भेद हैं जो कि ये साधर्म्यादि की समता से उत्पन्न होते हैं इसलिये इन सब के

अन्त में 'सम' शब्द दिया गया है। इनका लक्षण आगे क्रमशः सूत्रकार ही करते हैं। प्रथम साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥२॥

जब साधर्म्य से साध्य में विपरीत धर्म देखा जावे, तब साधर्म्य से ही साध्य का खण्डन हो जाता है, इसको साधर्म्यसमदोष कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि घटादि उत्पत्तिमान होने से कार्य है, अतएव अनित्य है। इस पर दूसरा कहता है, जैसे आकाश निरवयव होने से नित्य है वैसे ही शब्द भी निरवयव होने से नित्य है। परन्तु ये दोनों दुष्ट हेतु हैं क्योंकि कार्य्य के साथ किसी गुण के मिलने से अनित्य होना और कारण के साथ किसी गुण का साधर्म्य होने से नित्य होना साध्य के निर्णय में पर्याप्त नहीं, इसके लिये किसी अन्य हेतु की आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि दो पदार्थोंमें किसी एक धर्मके मिलने से जो समता का प्रतिपादन करना है, उसको साधर्म्यसम दोष कहते हैं। ऐसे ही वैधर्म्यसममें दो पदार्थों के विरुद्ध धर्मों को लेकर उनकी विषमता का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे कोई कहे कि आकाश के विरुद्ध उत्पत्ति धर्म होने से शब्द अनित्य है। इस पर दूसरा कहे कि नित्य आकाश में समान सावयव न होने से शब्द नित्य है और घटादि कार्यों से निरवयव होने के कारण शब्द विलक्षण है। यहाँ भी कोई विशेष हेतु नहीं क्योंकि शब्द में दोनों धर्म हैं, वह अनित्य घटादि के समान उत्पन्न होने वाला भी है और नित्य आकाश सदृश निरवयव भी है। वाद करने वाले दोनों पक्ष इससे अपना २ प्रयोजन निकाल सकते हैं। इसलिये ये दोनों निर्णय के प्रतियोगी साधर्म्य सम दोष कहलाते हैं। सारांश यह है कि दो पदार्थ परस्पर किसी एक धर्म के मिलने से एक जैसे नहीं हो जाते और नहीं किसी एक धर्म के न मिलने से वे आपस में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। इसकी पुष्टि करते हैं—

गोत्वाद्‌ गोसिद्धवत्तत्सिद्धिः ॥३॥

केवल एक धर्म के साधर्म्य या वैधर्म्यसम से साध्य जो सिद्ध किया जाता है, उसमें अव्यवस्था दोषभी होता है। अतएव प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि उसके सामान्य धर्म से होती है। जैसे गौ पदार्थ की सिद्धिमें गोत्व जाति और गवाकृति ही मुख्य कारण है न कि पुच्छ और विषाणादि क्योंकि इनकी अतिव्याप्ति महिषादिमें भी होती है अब उत्कर्षसम वर्ण्यसम, निकल्पसम और साध्यसम का लक्षण कहते हैं-

साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाश्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पासाध्यसमाः ॥ ४ ॥

साध्य और दृष्टांत के धर्म भेद से दोनों तरह सिद्ध होने वाले उत्कर्षसमादि ६ दोष होते हैं। जहाँ अविद्यमान धर्म के साथ तुलना करके साध्य को वर्णन किया जावे, उसे उत्कर्षसम कहते हैं। जैसे किसी ने कहा है कि घट के सदृश उत्पन्न होने से शब्द भी अनित्य है, इसके उत्तर में दूसरा कहता है कि अनित्य होना और उत्पत्तिधर्मक होना ये दोनों धर्मरूपवान पदार्थ में होते हैं, जब शब्द उत्पत्तिधर्मक और अनित्य है तो वह रूपवान् भी है। यहाँ शब्द में रूप नहीं था परन्तु वादी को परास्त करने के लिये उसकी अधिक कल्पना करली गई इसी को उत्कर्षसम कहते हैं।

जहां विद्यमान धर्म को साध्य से पृथक् करके वर्णन किया जावे उसे अपकर्षसम कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि रूपरहित आकाश कार्य और अनित्य नहीं इसलिये शब्दभी रूप रहित होने से कार्य और अनित्य नहीं। यहाँ शब्द में जो उत्पत्ति का धर्म था, उसको रूपरहित होने से पृथक् कियागया। जो साध्य और उसका हेतु वर्णन करने योग्य हैं, वह वर्ण्यसम और जो वर्णन करने योग्य नहीं, वह अवर्ण्यसम कहलाते हैं वस्तु में कौनसा धर्म वर्णनीय है और कौनसा अवर्णनीय, यह

बुद्धि से जाना जाता है, इसलिए इनके दृष्टान्त नहीं दिए। जो धर्म वस्तु को सिद्ध करने वाला है, दृष्टांत में उनके विकल्प से साध्य को सन्दिग्ध बनाना विकल्पसम दोष कहलाता है। जैसे कहा जावे कि क्रियावान वस्तु कोई भारी होती है जैसे लोहा और कोई हलकी होती है जैसे वायु, ऐसे ही क्रियावान कोई परिच्छन्न हो सकता है जैसे ढेला और कोई विभु हो सकता है, जैसे आत्मा। इसको विकल्पसम कहते हैं।

साध्य में दृष्टांत के एक धर्म मिलने पर सब धर्मों का साध्य मान लेना साध्यसम दोष कहलाता है। जैसे कोई कहे कि यदि ढेला क्रियावान् है। यदि आत्मा साध्य है तो ढेला भी साध्य है, इत्यादि दोनों एक से हैं। अब उक्त आपेक्षों का समाधान करते हैं:-

किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

जहां कुछ साधर्म्य होता है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है, उसमें किसी धर्म के विरुद्ध होने से उसका खण्डन नहीं होता सम्बन्ध सहित किसी धर्म में मिल जाने से उपमान सिद्ध होता है। जैसे यह दृष्टांत देना कि गौ के सदृश नील गाय होती है जिस धर्म में गौ और नील गाय का सादृश्य है उसी धर्म के मिलने से दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध होती है। विरुद्ध धर्म के भेद से सनातनधर्म की एकता का खण्डन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिन अंशों में गौ और नीलगाय में साधर्म्य है, वह विरुद्ध अंशों के वैधर्म्य से खण्डित नहीं होता। दृष्टांत में दार्ष्टांत का कोई एक धर्म मिलना चाहिए, यह आवश्यक नहीं कि इनके सारे धर्म ही आपस में मिलें। अतएव उत्कर्ष समादि दोनों से वैधर्म्य को लेकर साध्य का खण्डन करना ठीक नहीं। इस पर एक हेतु और देते हैं:-

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

दृष्टान्त में साध्यका एक धर्म मिलना चाहिए सब धर्मों के मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सब धर्म मिल जायें तो साध्य में और

दृष्टांत भेद ही क्या रहा, भेद न रहने से वह फिर साध्यको क्या सिद्ध करेगा ? अतएव साध्यसम प्रतिषेध अयुक्त है । अब प्रतिसम और अप्रतिसम का लक्षण कहते हैं: —

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वादप्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

हेतु साध्य से मिलकर उसको सिद्ध करता है अथवा बिना मिले यदि मिलकर सिद्ध करता है तो दोनों में किसी एक की विशेषता न होने से कौन सिद्ध करता है और कौन सिद्ध होता है इसकी कुछ व्यवस्था न रहेगी । अर्थात् मिलने से उनमें साध्य साधक भाव नहीं रह सकता । यदि बिना मिले हेतु का साध्य को सिद्ध करना मानोगे तो भी साध्य को सिद्ध न हो सकेगी । क्योंकि दीपक उसी वस्तु को सिद्ध करता है, जिस पर उसका प्रकाश पड़ता है जिस वस्तु से उसके प्रकाश का मेल नहीं होता । उसको सिद्ध नहीं करता । अतएव प्राप्ति से प्राप्तिसम और अप्राप्ति से अप्राप्तिसम दोश उत्पन्न होते हैं । इसका उत्तर देते हैं:-

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥८॥

उक्त दोनों प्रकार खण्डन ठीक नहीं क्योंकि कहीं हेतु की प्राप्ति से और कहीं अप्राप्ति से भी साध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है । घटादि कुम्हार चाक और मिट्टी के मिलने से सिद्ध होते हैं । अभिचार (साजिश) आदि बिना मिले ही गुप्त रीतिपर अपना अभाव दिखलाते है । इसलिए प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम प्रतिषेध अयुक्त हैं । अब प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टांतसम का लक्षण कहते हैं:-

दृष्टांतस्म कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टांतेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टांतसमौ ॥ ९ ॥

कारण का कारण और दृष्टांत का दृष्टांत नहीं होता,जब कारणके कारण या दृष्टांत के दृष्टांत की जिज्ञासा की जाती है, तब फिर उनके कारण और दृष्टांत का भी प्रसङ्ग उत्पन्न होता है, इसको प्रसङ्गसम दोष

कहते हैं और प्रत्येक दृष्टांतमें इस दोष की सम्भावना करना प्रतिदृष्टांत सम दोष कहलाता है। जैसे कहा जावे कि क्रियावान् होने से वायु चलती है इस पर प्रतिवादी कहे कि वायु क्रियावान् क्यों है ? प्रसङ्गसम का उदाहरण है दूसरे प्रतिदृष्टांतसम का उदाहरण यह है। यदि घटि के दृष्टांत अनित्य है तो आकाश के दृष्टांत से नित्य है। अब प्रसङ्गसम का खंडन करते हैं—

प्रदीपाऽऽदानप्रसङ्गनिवृत्तिवद्विनिवृत्तिः ॥१०॥

जैसे अंधकार में रक्खे हुए पदार्थों को जानने के लिए दीपक जलाया जाता है किन्तु दीपक को जानने के लिये दूसरा दीपक नहीं जलाया जाता ऐसे ही जिस हेतु या दृष्टांत से साध्य को सिद्ध किया जाता है, उस हेतु या दृष्टांत को सिद्ध के लिए अन्य हेतु या दृष्टांत की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जिसको लौकिक या परीक्षक सामान्य रूप से समझ सकें, वह दृष्टांत कहलाता है। बस जैसे दीपक की सिद्ध के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं। अब प्रतिदृष्टांतसम खंडन करते हैं—

प्रतिदृष्टांतहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टांतः ॥११॥

दृष्टांत के खंडन में प्रतिदृष्टांत दिया जाताहै,जब दृष्टांत से साध्य की सिद्ध नहीं होती तो प्रतिदृष्टांत से उसका खंडन कैसे हो सकता है? और प्रतिदृष्टांत की सिद्धिमें प्रतिवादी ने कोई विशेष हेतु भी नहीं दिया, यदि प्रतिदृष्टांत को हेतु न माना जावे तो फिर दृष्टांत ने क्या अपराध किया है जो उसको हेतु माना जावे अब अनुत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं—

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥१२॥

अनुत्पत्ति से खंडन करना अनुत्पत्तिसम दोष कहलाता है। जैसे प्रयत्न के पश्चात उत्पन्न होने से घट के समान शब्द भी अनित्य है,ऐसा कहने पर प्रतिवादी को यह दोषदेना कि उत्पत्ति से पहले अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न के पश्चात होने वाला धर्म अनित्यता का कारण ही नहीं हो

सकता, इससे शब्द का नित्य होना सिद्ध है। इस प्रकार अनुत्पत्ति के दृष्टान्त से उत्पत्ति का खंडन करना अनुत्पत्तिसम दोष कहलाता है। अब इसका उत्तर देते हैं—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न करणप्रतिषेधः ॥१३॥

उत्पत्ति से पहले शब्द का अभाव है क्योंकि उत्पन्न होकर ही शब्द कहलाता है, उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मान कर उत्पत्ति का खंडन करना ठीक नहीं। प्रयत्न की आवश्यकता (जो अनित्यता का हेतु है) शब्द की उत्पत्ति से ही सम्बन्ध रखती है तात्पर्य यह कि जब कार्य ही मौजूद नहीं है, तो उसके कारण का खण्डन कैसा ? कार्य की विद्यमानता में ही उसके कारण का खंडन या मंडन किया जा सकता है। अतएव अनुत्पत्तिसम दोष अनुत्पन्न है। अब संशयसम का लक्षण कहते हैं—

सामान्यदृष्टांतयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥१४॥

संशय को हेतु मान कर जिसका खण्डन किया जावे, उसको संशयसम कहते हैं। जैसे यह कहने पर कि घटादि अनित्य कार्यों के सदृश क्रिया से उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है, प्रतिवादी यह दूषण दे कि सामान्य गोजाति में और घटादि कार्य में इन्द्रियगोचर होना धर्म बराबर है अर्थात् जैसे गोत्व जाति इन्द्रिय से ग्रहण की जाती है, वैसे ही घटादि कार्य भी। घटादि के समान इन्द्रिय ग्राह्य होने पर भी सामान्य जाति नित्य है। इसलिये घटादि के दृष्टांत से और कार्यत्व के हेतु से शब्द को अनित्य कहना संदिग्ध है। क्यों नित्य अनित्य के साधर्म्य से संशय उत्पन्न होता है। इसको संशयसम प्रतिषेध कहते हैं।

साधर्म्यात्संशये न शंशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयोऽत्यन्तसंँश प्रसंङ्गो नित्यत्वा नभ्युपगपाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ।१५।

साधर्म्य से संशय होता है, जैसे स्थाणु और पुरुष में साधर्म्य होने से संशय उत्पन्न होता है। परन्तु वैधर्म्य से जब उन के विशेष धर्मों का भेद मालूम होता है, तब संशय निवृत्त हो जाता है। ऐसे ही क्रिया जो शब्द का कारण है उससे उत्पन्न हुये कार्य शब्द के अनित्य होने में वधर्म्य के कारण सो सामान्य जातिसे उसका है संदेह उत्पन्न नहीं होता। यदि वैधर्म्य के होने पर भी संदेह माना जावे तो फिर संदेह की कोई सीमा न रहेगी। अतएव शब्द के विशेष धर्म का ज्ञान होने से नित्यत्व की आशङ्का न रहेगी। क्योंकि जब तक स्थाणु और पुरुष के साधर्म्यका ज्ञान है, तभी तक संशय है। जहां इन के वधर्म्य का ज्ञान हुआ, फिर संशय रह नहीं सकता। अतएव संशयसम प्रतिषेध अयुक्त है। अब प्रकरणसन का लक्षण कहते हैं:—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः॥ १६ ॥

दोनों पक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहतेहैं। और वह नित्य और अनित्य के साधर्म्य से उत्पन्न होती है। जैसे किसीने कहा कि अनित्य घटादि कार्य के सदृश होने से शब्द भी अनित्य है, इस पर प्रतिवादी ने कहा कि नित्य आकाश के सदृश आकृति और शरीर रहित होनेसे शब्द नित्य है। अर्थात् एक पक्ष अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य सिद्ध करताहै। दूसरा उसी को नित्य आकाशके साधर्म्य से नित्य सिद्ध करता है। इसी को प्रकरणसम दोष कहते हैं। अब इसका खण्डन करते हैं:-

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः॥१७॥

दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि होने में दोनों मेंसे एक ही पक्ष सिद्ध होगा, दोनों तो सिद्ध हो ही नहीं सकते। दोनों में से जो सच्चा पक्ष है, उसका खण्डन प्रकरणसम नहीं कर सकता। क्योंकि जब तक अनुसन्धान से तत्व का अवधारण नहीं कर सकता। क्योंकि जब तक अनुसन्धान से तत्व का अवधारण नहीं होता तभी तक प्रक्रिया रहती है, तत्व का निश्चय हो जाने पर फिर प्रक्रिया नहीं रहती। इसलिये प्रकरणसम दोष अयुक्त है।

प्रश्न—यह कहना कि दोनों पक्षों में से एक ही पक्ष सत्य होगा ठीक नहीं मालूम होता। सम्भव है कि दोनों पक्ष सच्चे हों। यदि कहो कि दोनों का सत्य होना असम्भव है, क्यों कि सत्य एक ही होता है तो दोनों का मिथ्या होना भी सम्भव है। क्यों कि मिथ्या अनेक हो सकते हैं ?

उत्तर—यह नियम अविरुद्ध पक्षों में है जहाँ परस्पर-विरुद्ध दो पक्ष हों अर्थात् एक कहता है कि आत्मा नित्य है और दूसरा कहता है कि आत्मा अनित्य है तो यहां एक ही पक्ष सत्य होगा, या तो आत्मा का नित्य होना या अनित्य होना। यह नहीं हो सकता कि आत्मा नित्य भी हो और अनित्य भी। अब अहेतुसम का लक्षण कहते हैं:—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः॥ १८॥

हेतु जो साध्य को सिद्ध करने वाला है, तीनों कास में उसकीसिद्धि नहीं होसकती। क्योंकि यदि यह मानें कि हेतु साध्य से पहले वर्त्तमान था तो जब साध्य ही न था, तो वह हेतु किसका था और किसको सिद्ध करता था। यदि हेतु को साध्य के पश्चात् माना जावे तो हेतु के अभाव में वह साध्य किसका था, जिससे उसको साध्य कहा जावे। और यदि दोनों का एक साथ होना माना जावे, तो कौन साध्य है और कौन हेतु ? इसका निर्णय किस प्रकार होगा? इसलिये हेतुकी तीनों कालमें असिद्धि होने से अहेतुसम दोष उत्पन्न होता है। इसका उत्तर देते हैं:—

न हेतुः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः॥ १६॥

यह कहना कि हेतु की तीनों कलों में असिद्धि है, ठीक नहीं क्योंकि बिना हेतु या कारण के कोई साध्य या कार्य सिद्ध नहीं होता जब तीनों काल में कार्य्य सिद्ध कारण की अपेक्षा रखती है, तब किसी कालमेंभी कार्य के लिये कारण का अभाव क्योंकर हो सकता है। और प्रतिवादीने यह जो कहा था कि साध्य के अभाव में वह साधन किसका होगा ? इसका उत्तर यह है कि जो ज्ञेय है वही साध्य है, उसी का जाननेवाला जो साधन है, उसको हेतु कहते हैं और जहाँ ज्ञेयहै, वहीं उसका हेतु

भी मौजूद है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं--

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥२०॥

जैसे तुम हेतु के तीनों काल में असिद्ध होने से उसका खण्डन करते हो ऐसे ही तुम्हारे इस खंडन का भी खंडन किया जा सकता है, अर्थात तुम हेतु के सिद्ध होने से पहले उसका खंडन करते हो या पश्चात या हेतु और तुम्हारा खंडन दोनों एक साथ होंगे ? यदि कहो सिद्ध होने से पहले खण्डन करते हैं तो यह बिलकुल असंगत है, क्योंकि जो वस्तु मौजूद होती है, उसी का खंडन किया जाता है और जो वस्तु है ही नहीं, उसका खण्डन कैसा ? यदि कहो कि हम सिद्ध होने के पश्चात् खंडन करते हैं तो जब हेतु सिद्ध हो गया तो तुम्हारे खंडन करने से होता क्या है ? और यदि कहो कि हेतु और हमारा खंडन दोनों साथ २ रहेंगे तो यह हो नहीं सकता। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते। अतएव अहेतुसम प्रतिषेध अयुक्त है। अथ अर्थापत्तिसम का लक्षण कहते हैं—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥२१॥

एक बात के कहने से दूसरी बात जो स्वयमेव जानी जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जहाँ इस अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होती है, उसे अर्थापत्तिसम दोष कहते हैं। जैसे कोई कहे कि उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है इस पर दूसरा कहता है कि स्पर्श रहित होने से शब्द नित्य है। अर्थात् जब घट के समान उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है तो अर्थापत्ति से यह जाना गया कि आकाश के समान अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है।

अब इसका खण्डन करते हैं—

अनुक्तस्यार्थापत्तेःपक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनेकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥२२॥

अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकांतिक होने से अर्थापत्तिसम दोष खण्डित होजाता है, क्योंकि उक्त से अनुक्त का खंडन भी सामर्थ्य के अनुसार होता है। जैसे यह कहा जावे कि मनुष्य प्राणी है तो इस कहने से यह आशय नहीं निकलता कि मनुष्य के सिवाय और कोई प्राणी

नहीं। ऐसे ही उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है इसका अर्थापत्ति से यह तात्पर्य निकालना कि अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है, सर्वथा असङ्गत है। अतएव अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम दोष ठीक नहीं अब अविशेषसम का लक्षण कहते हैं—

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥२३॥

किसी एक धर्मके सादृश्य से दो पदार्थों को अविशेष एक ही मानना अविशेषसम दोष कहलाता है। जैसे शब्द और घट में उत्पन्न होना धर्म बराबर है इससे इनको एक ही समझ लेना और अस्तित्व धर्म सब पदार्थों में बराबर है, इसलिए सबको एक ही समझकर दूषण देना अविशेषसम प्रतिषेध है। अब इसका उत्तर देते हैं—

क्वचित्तद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ।२४।

एक धर्म की कहीं तो प्राप्ति है, और कहीं अप्राप्ति इसलिए अविशेषसम अनैकांतिक होने से ठीक नहीं जैसे घट उत्पत्तिमान है, शब्द भी उत्पन्न होता है, यहाँ तो प्राप्ति है। परन्तु घट स्पर्शवान् शब्द नहीं, यहाँ अप्राप्ति है। अतएव अनैकांतिक होने से अविशेषसम दोष ठीक नहीं। अब उत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं—

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥२५॥

दोनों कारणों की उपलब्धि होने से उपपत्त्यसम प्रत्यस्थान उत्पन्न होता है। जैसे शब्द के अनित्य होने का कारण उसका उत्पन्न होना है तो उस नित्य होने का कारण शब्द का अस्पृश्य होना है। इन दोनों कारणों की उपपत्ति होने से उपपत्तिसम दोष उत्पन्न होता है। इसका उत्तर देते हैं—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥२६॥

जब कि प्रतिवादी दोनों के कारणों की उत्पत्ति को स्वीकार कर चुका है, फिर वह अनित्यता के कारण का खण्डन किस प्रकार कर सकता है। यदि परस्पर विरोध से एक का निषेध माना जावे, तो विरोध दोनों में बराबर है। फिर दो में से एक की सिद्धि वह क्योंकर कर

सकेगा ? अब उपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युलम्भादुपलब्धिसमः ।।२७।।

यदि कोई शब्द के अनित्य होने में यह हेतु दे कि घट के समान प्रयत्नजन्य होने से शब्द अनित्य है, इसपर प्रतिपक्षीकहे कि बिना प्रयत्न के वृक्ष के पत्तों से वायु का स्पर्श होने पर जो शब्द होता है, वह भी अनित्य है। इसलिए वादी ने जो प्रयत्नजन्य होने का हेतु दिया है वह ठीक नहीं। इस प्रकार किसी नियत कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि होने से उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान होता है। अब इसका उत्तर देते हैं—

कारणांतरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ।।२८।।

जब कि दूसरे कारणों से भी उस धर्म का प्रगट होना सम्भव है इसलिये यह प्रतिषेध अयुक्त है क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होने का प्रयोजन यह है, कि वह कारण से उत्पन्न होता है, चाहे चेतन के प्रयत्न से चाहे जड़ के परन्तु उसका कारण अवश्य है और जिसका कारण है वह अनित्य है। इससे प्रयत्नजन्य होने का खंडन नहीं होता और नहीं शब्द के अनित्व का खंडन होता है। और यह माना कि शब्द बोलनेसे उत्पन्न नहीं होता किन्तु पहले मोजूद था, वही प्रकट होता है केवल आवरण दूर होजाता है, ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई आवरण होता है तो वह आँखों से भी दीखताहै किसी आवरण के प्रत्यक्ष न होने से यह मानना पड़ता है कि शब्द उच्चारण से पहले नहीं था और जब उच्चारण से उत्पन्न हुआ तो वह अनित्य है। अब अनुपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः२९

प्रतिवादी कहता है कि आवरण के प्रत्यक्ष होने से उसका अभाम मानते हो तो उसके अभाव के प्रत्यक्ष होने से उसके अभाव का अभाव मानना चाहिए। आवरण के अभाव का अभाव सिद्ध होने से आवरण का भाव सिद्ध हो जायगा। और जब आवरण का भाव सिद्ध हो गया तब शब्द भी नित्य सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार अभाव मानकर दूषण

देना अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान कहलाता है। अब इसका उत्तर देते हैं-

अनुपलम्भाऽऽत्मकत्वादनुपलब्धेर हेतुः ॥३०॥

अभाव के अभाव से यह हेतु निर्मूल है, क्योंकि अभाव भाव का होता है न कि अभाव का। जो वस्तु है उसकी उपलब्धि होत है और जो वस्तु ही कुछ नहीं, उसकी सर्वदा अनुलब्धि है, फिर उसकी अनुपलब्धि क्या हो सकती है ? अतएव अभाव का अभाव न होने से अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान ठीक नहीं। फिर इसी की पुष्टि करते हैं—

ज्ञानविकल्पानांज भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥

आत्मा में विषय ज्ञान के भावभाव का मन के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसमें मुझे सन्देह है इसका निश्चय है, वह वस्तु है और यही नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा अनेक प्रकार के ज्ञान विकल्प होते हैं। परन्तु यह अनुभव किसी को नहीं होता कि मैं शब्द का आवरण देखता हुआ उसके अभाव का अभाव देखता हूं। अतएव आत्मसंवेदनीय ज्ञानों में न होने के कारण भी शब्द के आवरण की कल्पना ठीक नहीं। अब अनित्य सम का लक्षण कहते हैं-

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥३२॥

साधर्म्य से तुल्य धर्म की उत्पत्ति होने पर सब में अनित्यत्व के प्रसङ्ग से अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है। जैसे अनित्यघट के साधर्म्य से शब्द अनित्य है, ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है कि घट भी एक पदार्थ है, उसके साथ साधर्म्य होने से सब पदार्थ अनित्य हैं। इस प्रकार अनियत्व के प्रसंग से दूषण देना अमित्यसम प्रत्यवस्थान कहलाता है। अब इसका खण्डन करते हैं।

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥३३॥

प्रतिवादी की दृष्टि में जब घट और शब्द का उत्पन्न होना रूप साधर्म्य शब्द के अनित्य होनेमें पर्याप्त नहीं अर्थात् घट के साधर्म्य से शब्द अनित्य सिद्ध नहीं होता, तब वह घट के साधर्म्य से सब पदार्थ

को कैसे अनित्य सिद्ध करता है ? और सब में तो शब्द भी आगया। अतः प्रतिवादी का उक्त कथन प्रतिज्ञा हानि दोष से ग्रस्त है, अतएव अयुक्त है। फिर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं—

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥३४॥

दृष्टांत में जो साध्य का साधक धर्म है, हेतु कहलाता है और वह हेतु किसी के अनुकूल होता है और किसी के प्रतिकूल और किसी के साथ उसका सामान्य संबन्ध होता है और किसी के साथ विशेष। सामान्य से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य की उत्पत्ति होती है। केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का आश्रय लेकर किसी बात का प्रतिपादन या खण्डन करना ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं। अतएव प्रतिवादी का केवल साधर्म्य से सबको अनित्य सिद्ध करना अयुक्त है। अब नित्यसम का लक्षण कहते हैं—

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥३५॥

नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना करने से नित्यसम प्रत्यवस्थान होता है। शब्द अनित्य है, यह जो वादी की प्रतिज्ञा है, इस पर प्रतिवादी कहता है कि शब्द में अनित्यपन नित्य है या अनित्य। यदि कहो कि नित्य है तो गुण के नित्य होने से गुणी भी नित्य होगा। और यदि अनित्य कहोगे तो अनित्यत्व के अनित्य होने से शब्द नित्य होजायगा। इसका खंडन करते हैं—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥३६॥

शब्द की अनित्यता को स्वीकार करके फिर उसे नित्य बतलाना ठीक नहीं। क्योंकि नित्यत्व का अनित्यत्व हेतु नहीं हो सकता और हेतु के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। उत्पन्न होकर शब्द नष्ट होने से उसका अनित्य होना सिद्ध है, फिर यह प्रश्न करना कि शब्द में अनित्यत्व नित्य है वा अनित्य ? नहीं बन सकता क्योंकि जब

अनित्यत्व का अभाव है तो फिर भाव कैसा ? अतएव नित्यसम दोष अयुक्त है। अब कार्य का सम लक्षण कहते हैं—

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥३७॥

प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्यहै इस प्रतिज्ञा पर यह कहना कि प्रयत्न के कार्य अनेक हैं .अर्थात प्रयत्न के पश्चात् किन्हीं पदार्थों की उत्पत्ति होती है किन्हीं की अभिव्यक्ति। इसलिए प्रयत्नजन्य होने पर भी शब्दकी उत्पत्ति ही क्यों मानीजाय,अभिव्यक्ति क्यों न मानी जाय। क्योंकि प्रयत्न के कार्य अनेक प्र कार के होते हैं। कार्य के अनेकत्व से कार्यसम दोष होता है। इसका उत्तर देते हैं—

कार्यण्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥

प्रयत्नजन्य होने से शब्द की उत्पत्ति और उसका कार्य होना सिद्ध है, जहाँ प्रयत्न के पश्चाद् अभिव्यक्ति होती है. वहाँ आवरण अनुपलब्धि का कारण होता है, उस आवरण को हटाने के कार्य की अभियक्ति होती है. परन्तु जहाँ उत्पत्ति होती है, वहाँ आवरण का अभाव है। शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि उच्चारण से पहले न कहीं शब्द था और न कोई उसका आवरण था। इसलिए कार्यसम प्रतिषेध अनैकान्तिक होने से अयुक्त है प्रतिवादी फिर कहता है—

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥३९॥

खण्डन में भी वही दोष है। यदि अनैकांत होने से कार्यसम अयुक्त है, तो उसका खण्डन भी एकांत न होने से प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह किसीका मंडन किसीका खंडन करता है और शब्द को अनित्य मानकर प्रयत्न के पश्चात उत्पक्ति मानी गई है और अनित्य मानकर अभिव्यक्ति। दोनो में विशेष हेतु का अभाव है अब सर्वत्र इस दोष को अभिव्याप्ति दिखलाते हैं—

सर्वत्र वम् ।४०।

यह अनैकांतियत्व दोष जो कार्यसम में दिखलाया है,किंतु भय

जाति भेदों में इसकी असक्ति होती है अतएव सब प्रमाण हैं। इनके प्रतिषेध में भी यही दोष प्रसक्त होता है—

प्रतिषेधेऽप्रतिषेधेप्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥४१॥

जैसे प्रतिषेधों में अनैकान्तिकत्व दोष हैं, ऐसे ही प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस दोष की प्रसक्ति होती है। जैसे 'कार्य होने से शब्द अनित्य है" यह पहला पक्ष है। 'कार्य के अनेक प्रकार का होने से इसमें कार्यसम दोष है' यह दूसरा पक्ष है। 'दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष बराबर है' यह तीसरा पक्ष है। खन्डन के खन्डन में भी वही दोष है' यह चौथा पक्ष है। अब पाँचवाँ पक्ष कहते हैं—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधसमानो दोषप्रसङ्गोमतानुज्ञा ॥४२॥

खन्डन अर्थात् दूसरे पक्ष को सदोष मानकर खण्डन के खंडन में अर्थात् तीसरे पक्ष में भी दोष देना मतानुज्ञा नाम निग्रह स्थान है जिसका वर्णन अगले आह्निक में आवेगा यह पाँचवाँ पक्ष है। अब इसके आन्हिक के अन्तिम सूत्र से उपसंहार करते हैं—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारेहेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥ ४३ ॥

अपने पक्ष को सिद्ध न करके प्रतिवादी के आक्षेप का खंडन करने से दोनों पक्ष असिद्ध रहते हैं। इसलिए जब कोई प्रतिवादी हमारे पक्ष में दूषण दे तो हमारा कर्तव्य यह होनाचाहिये कि हम अपने पक्ष में दोष का न होना सिद्ध करें। यदि हम दूषण का उद्धार किये बिना प्रतिवादी के दिये हुए दोषमें दोष निकालने लगें तो मानोहमने उसके बतलाये हुए का दोष का अपने पक्ष में होना स्वीकार कर लिया, जिससे दोनों पक्ष अप्रसिद्धरहे। प्रतिपक्षी के दिए हुए दूषण का उद्धार न करके उसके दूषण में दूषण निकालना मतानुज्ञा निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी को

किसी ने चोरी का दोष लगाया, अब यदि वह उसका नियारण करके दोष लगाने वाले को भी चोर सिद्ध करने लगे तो ऐसा करने से चाहे वह अपने विपक्षी को चोर सिद्ध करदे परन्तु उसके अपने दोष का निवारण नहीं हो सकता। अपने दोष का निवारण तो तभी होगा जब कि वह अपने पर लगाये गये अपवादों की असारता प्रमाणों से सिद्ध करेगा।

॥ पंचमाध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

अथ पञ्चममोध्याये द्वितीयमाह्निकम्।

पहले अध्याय में यह कह चुके हैं कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति इन दोनो के विकल्प से निहहस्थान उत्पन्न होते हैं निग्रहस्थान उनको कहते हैं कि जिनमें पड़कर वादी और प्रतिवादी निगृहीत (परास्त) हो जाते हैं अतएव वादी और प्रतिवादी के लिए उनका जानना परमावश्यक है अब इस आन्हिक में उनके भेद और लक्षण बतलाये जाते हैं—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञाऽन्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥१॥

सब निग्रहस्थान २२ हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१—प्रतिज्ञाहानि, २—प्रतिज्ञान्तर, ३—प्रतिज्ञाविरोध, ४—प्रतिज्ञासंन्यास, ५—हेत्वन्तर, ६—अर्थान्तर, ७—निरर्थक, ८—अविज्ञातार्थ, ९—अपार्थक, १०—अप्राप्तकाल, ११—न्यून, १२—अधिक, १३ पुनरुक्त, १४—अननुभाषण, १५—अज्ञान, १६—अप्रतिभा, १७—विक्षेप, १८—मतानुज्ञा, १९—पर्यनुयोज्योपेक्षण; २०—निरनुयोज्यानुयोग, २१—अपसिद्धांत, २२—हेत्वाभास। ये सब मिलकर २२ होते हैं। इनके लक्षण और उदाहरण पृथक २

वर्णन करते हैं। अब प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं—

प्रतिदृष्टांतधर्माभ्युनुज्ञा स्वदृष्टांते प्रतिज्ञाहानिः ॥२॥

अपने पक्ष के विरुद्ध प्रतिवादी जो हेतु या दृष्टांत होता है, उसको स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थान है। क्योंकि परपक्ष को स्वीकार करना मानो अपने पक्ष को त्याग देना है। जैसे वादी ने प्रतिज्ञा की, कि इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि सामान्य जाति भी इन्द्रिय का विषय है और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द भी नित्य हो सकता है। इस पर वादी कहने लगे कि यदि इन्द्रिय का विषय:जाति नित्य है तो शब्द भी नित्य होगा। यहाँ वादी ने प्रतिवादी के पक्षको स्वीकार कर लिया और अपने पक्षको त्याग दिया। इसी को प्रतिज्ञाहानि कहते हैं। अब प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशःप्रतिज्ञाऽन्तरम्॥३॥

अपनी प्रतिज्ञा का खन्डन होने पर उसका समाधान न करके किसी दूसरी प्रतिज्ञा को कर बैठना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान कहलाता है जैसे वादी ने यह प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है। इसका प्रतिवादी ने खण्डन किया कि जाति इन्द्रिय का विषय होने से नित्य है इसके उत्तर में यह कहना कि जाति इन्द्रिय का विषय होने से नित्य है। परन्तु घट और शब्द सर्वगत नहीं, इस लिये वे अनित्य है। इस कथन में प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान होता है। क्योंकि पहली प्रतिज्ञा यह थी कि शब्द अनित्य है, उसे सिद्ध न करके वादी ने अब दूसरी और करदी कि शब्द सर्वगत नहीं, प्रतिज्ञा के साधक हेतु या दृष्टांत होते हैं, न कि प्रतिज्ञा। इसलिए यह प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान है। अब प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण कहते हैं-

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध से प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान होता है। जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि द्रव्य गुण से भिन्न है इस पर यह।

हेतु दिया कि रूपादि से अतिरिक्त किसी वस्तु की उपलब्धि न होने से यहाँ पर प्रतिज्ञा और हेतु दोनों परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि यदि द्रव्य से भिन्न गुण है तो रूपादि से अतिरिक्त वस्तु अनुपलब्धि होना ठीक नहीं और जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो द्रव्य गुण से भिन्न है, यह कहना नहीं बन सकता दोनों में विरोध होने से प्रतिज्ञा-विरोध निग्रहस्थान होता है—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥

जो प्रतिज्ञा की हो उसका खण्डन होने पर उसको छोड़ देना प्रतिज्ञासन्यास कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि इन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादी ने कहाकि जाति भी इंद्रिय का विषय है परन्तु वह नित्य है। इसको सुनकर वादी कहने लगे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है। यह प्रतिज्ञासन्यासनामक निग्रह-स्थान है। अब हेत्वन्तर का लक्षण कहते हैं—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वंतरम् ॥६॥

अपने पक्ष की पुष्टि में जो सामान्य हेतु दिया गया हो उसके खण्डित होने पर विशेष हेतु की इच्छा करना हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहलाता है जैसे किसी ने कहा कि घट परिमाणवान् होने से एक कारण वाला है, इस पर प्रतिवादी कहता है कि यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि अनेक कारण वाले पदार्थों का भी परिमाण देखने में आता है। इसपर प्रतिवादी का कहना कि आकारवान् होने से घड़ा एक कारण वाला है। परिमाण वाला होना पहला हेतु था, उसका खण्डन होने पर वादी ने उसे छोड़कर दूसरा हेतु आकार वाला होने दिया बस पहले हेतु को छोड़कर दूसरे हेतु की शरण लेना हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहलाता अब अर्थान्तर का लक्षण कहते हैं—

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥७॥

जिस बात के सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गई हो उसके प्रकृत

अर्थ कहते हैं। प्रकृत अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को जो उससे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, कहना अर्थान्तर निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि कार्य होने से शब्द अनित्य है, इसपर यह कहना कि शब्द गुण है, आकाश में रहता है। इस कथन का प्रकृत अर्थ से कुछ सम्बन्ध न होने से यह अर्थान्तर निग्रहस्थान है। अथ निरर्थक का लक्षण कहते हैं—

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥८॥

जिन शब्दों का कोई अर्थ न हो उनके उच्चारण को निरर्थक निग्रहस्थान कहते हैं, जैसे कोई यह प्रतिज्ञा करे कि शब्द नित्य है और हेतु यह देने लगे कि जब गड़दश होने से जाबगड़दश यद्यपि वर्णक्रम निर्देश है, तथापि यहाँ हेतु में इसका कहना बिलकुल निरर्थक है। अतएव जिसमें हेतु के स्थान में निरर्थक शब्दों का उच्चारण किया जाय उसको निरर्थक निग्रहस्थान कहते है। अब अविज्ञातार्थ का लक्षण कहते हैं—

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥९॥

वादी जिस बात को ऐसे शब्दों में कहे कि जिनको कोई समझ न सके अर्थात् जो प्रसिद्ध न रों इनके अप्रसिद्ध होने के कारण या शीघ्र उच्चारण के कारण या कथित शब्दों के बहुर्थवाचक होने के कारण सभा और प्रतिवादी के तीन बार कहने पर भी यदि वादी का कहना समझ में न आवे तो वादी अविज्ञात निग्रहस्थान में फंस जाता है क्योंकि इससे यह जाना जाता है कि वादी जिस अर्थ को कहता है उसे खुद नहीं जानता। धूर्तवादी तो ऐसे शब्दों को इसलिए कहता है कि कोई उन्हें न समझ कर उत्तर न दे सके परन्तु इसका फल उसके लिये उलटा होता है क्योंकि वह आप अविज्ञातार्थ रूप निग्रहस्थान में पड़ जाता है। अब अपार्थक का लक्षण कहते हैं—

पौर्वापर्य्यायोगादप्रतिसम्बन्धार्थमपार्थकम् ॥१०॥

जिस कथन में पूर्वापर वाक्यों का कुछ सम्बन्ध या अन्वय न हो

उसे अपार्थक कहते हैं। जैसे दस घोड़े, छः अनार, मधु, चर्म, सिंह आदि असम्बन्ध शब्दों का उच्चारण करना अपार्थक निग्रहस्थान कहलाता है। अप्राप्तकाल का लक्षण है।

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच वाक्यों के अवयव प्रथमाध्याय में कहे जा चुके हैं इनका क्रम पूर्वक न कहकर लौटपौट कर कहना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है। जैसे कोई पहले प्रतिज्ञा को न कह कर उदाहरण देने लगे या निगमन के पश्चात् हेतु कहने लगे वह अप्राप्तकाल निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥१२॥

प्रतिज्ञादि जो पांच वाक्य के अवयव हैं, वाद के समय उन में से किसी को छोड़ देना सबसे यथावसर काम न लेना न्यून नामकनिग्रह स्थान है। क्योंकि पांचों अवयवों से अर्थ की सिद्धी होती है, इनमें से यदि एक भी छूट जाय, तो अर्थ में गड़बड़ हो जाती है।

अधिक का लक्षण कहते हैं—

हेतूदाहरणाधिकधिकम ॥१३॥

जहां एक ही हेतु और दृष्टांत से साध्य सिद्ध हो जाता है वहाँ व्यर्थ अनेक हेतु और उदाहरणों को प्रस्तुत करना अधिक नाम निग्रहस्थान है। अब पुनरुक्त का लक्षण कहते हैं—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुयादात् ॥१४॥

यदि किसी प्रयोजन से कोई बात दो बार या अधिक बार कही जावे तो उसे अनुवाद कहते हैं। अनुवाद को छोड़ कर किसी बात को दो बार या अधिक बार कहना पुनरुक्त निगृहस्थान है। अनुवाद और पुनरुक्त में क्या भेद हैं?

अनुवादे त्वपुनरुक्तां शब्दाभ्यासदर्थविशेषोपपत्तेः॥१५॥

किसी शब्द या वाक्य की विशेष आवश्यकता होने पर पुनः कहना अनुवाद कहलाता है और विशेष अर्थ को जताने के लिए यह अनुवाद करना ही पड़ता है जैसे हेतु को कहकर प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है। यह हेतु और उदाहरण द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए किया जाता है। अतएव पुनरुक्त नहीं कहलाता। पुनरुक्त किसे कहते हैं—

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥१६॥

एक अर्थ का जिस शब्द या वाक्य से बोध होजावे उसी अर्थ को फिर दूसरे शब्दों या वाक्यों से वर्णन करना पुनरुक्त कहलाता है जो दो प्रकार का है—१—शाब्दिक पुनरुक्त, २-आर्थिक पुनरुक्त। जिसमें बार बार बिना प्रयोजन एक ही शब्द का प्रयोग किया जावे वह शाब्दिक पुनरुक्त है। जैसे द्रव्य द्रव्य, गुण गुण। जिसमें किन्हीं शब्दों से एक अर्थ कह दिया गया हो फिर दूसरे शब्दों में उसी अर्थ को कहना आर्थिक पुनरुक्त है। जैसे किसी ने कहा जो उत्पन्न होता है वह अनित्य है, इस कहने से यह अपने आप सिद्ध होगया कि जो उत्पन्न नहीं होता वह अनित्य है, इस अर्थ से सिद्ध हुई बात को फिर कहना आर्थिक पुनरुक्त है, इसी को अर्थापत्ति भी कहते हैं। अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं—

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याऽप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ॥१७॥

जाने हुये विषय को सभा से तीन बार कहे जाने पर भी जो प्रगट नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रह स्थान में पड़ता है, क्योंकि जब भाषण ही करेगा, तो अपने पक्ष का मण्डन तथा प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन क्या करेगा? अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं—

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥१८॥

प्रतिपक्षी के तीन बार बतलाये जाने पर भी जो किसी विषय को नहीं समझता वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है। क्योंकि बिना जाने न स्वपक्ष का मंडन और न परपक्ष का खंडन हो सकता है। अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं—

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥१९॥

प्रतिपक्षी के आक्षेप का किसी कारण से उत्तर न दे सकना अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहलाता है। अर्थात् समय पर आक्षेप का उत्तर, भय, प्रमाद या विस्मृति के कारण न देना अप्रतिभा है। अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं—

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥२०॥

कार्य के बहाने से प्रकृतवाद को टाल देना विक्षेप नामक निग्रह स्थान कहलाता है। जैसे इस समय मुझे अमुक आवश्यक काम करना है, उसको पूरा करके फिर बातचीत करूंगा। इत्यादि कार्य के बहाने से वाद को बन्द कर देना विक्षेप निग्रहस्थान है। मतानुज्ञा का लक्षण कहते हैं—

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥२१॥

अपने पक्ष में प्रतिवादी ने जो दोष लगाया है, उसका उद्धार न करना मानो उसको स्वीकार करना है ऐसा न करके जो दूसरे के पक्ष में वही दोष आरोपण करता है, इसको मतानुज्ञा कहते है। दूसरे के दोष सिद्ध करने से अपना दोष निवृत्त नहीं होता, वह तो प्रमाण और युक्ति से उसका निषेध करने पर ही निवृत्त होता है। अब पर्यनुयो-ज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं—

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥२२॥

जो निगृहीत होगया, अर्थात् किसी निग्रह स्थान में पड़ गया है उसको न बतलाना कि अमुक निग्रहस्थान में पड़ा है, इसको पर्यनुयो-ज्योपेक्षण नाम निग्रहस्थान कहते हैं। क्योंकि अपनी निर्बलता को स्वयं

कोई नहीं कहता, जब परपक्षी भी उसको नहीं बतलाता तो यही समझा जायगा कि वह वाद के नियमों से अनभिज्ञ है। अब निरनुयोज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥२३॥

जो किसी निग्रहस्थान में न आया हो, उसको भी निग्रहीत बतलाना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है। अब अपसिद्धांत का लक्षण कहते हैं—

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त ॥२४॥

किसी सिद्धान्त को मान कर या किसी पक्ष को स्थापन करके फिर उसके विरुद्ध कहना या उस पक्ष का खण्डन करना अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान कहलाता है। जैसा इस सिद्धान्त को मानकर कि सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता कोई यह कहने लगे कि जो पहले नहीं था, वह हो गया और जो है वह न रहेगा या कारण के बिना कार्य हो जाता है, तो वह अपसिद्धान्त रूप निग्रहस्थान में पड़ जाता है। अब हेत्वाभास को कहते हैं—

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥२५॥

पहले अध्याय के दूसरे आन्हिक में ५ हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है, जिसके नाम ये हैं। १—सव्यभिचार. २—विरुद्ध ३—प्रकरणसम ४—साध्यसम और ५-कालातीत। इनके लक्षण वहीं पर दिखलाये जा चुके हैं इसलिए यहाँ पर वर्णन करने की आवश्यकता न समझ कर सूत्रकार ने केवल निर्देश कर दिया है। इन पाँचों को मिलाकर कुल २६ निग्रह स्थान हो जाते हैं।

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्।

समाप्तश्चेदंशास्त्रः ॥

मुद्रक—पं० पुरुषोत्तमदास कटारे, हरीहर प्रेस, मथुरा